भारतीय ग्रन्थमाला; संख्या २४

साम्राज्य, और उनका पतन

लेखक

भारतीय शासन, भारतीय जागृति, विश्व वेदना, और
अपराध-चिकित्सा आदि के रचयिता

भगवानदास केला

प्रकाशक

व्यवस्थापक, भारतीय ग्रन्थमाला, वृन्दावन

प्रथम संस्करण } सन् १९४० ई० { मूल्य [illegible]

प्रकाशक :—
भगवानदास केला
व्यवस्थापक,
भारतीय ग्रन्थमाला,
वृन्दावन।

मुद्रक :—
नारायण प्रसाद,
नारायण प्रेस,
नारायण बिल्डिङ्स,
प्रयाग।

भारतीय ग्रन्थमाला के पच्चीस वर्ष

यह ग्रन्थमाला सन् १९१५ ई० में स्थापित हुई थी। अब इसके जीवन के पच्चीस वर्ष हो गये हैं। अनुकूलता प्राप्त होने पर इसका जयन्ती-उत्सव करने का विचार है। पच्चीस वर्ष के कार्य का सिलसिलेवार वर्णन लिख कर, रख दिया गया है।

माला का उद्देश्य विशेषतया नागरिक, राजनैतिक और आर्थिक साहित्य तैयार करना है। पच्चीस वर्ष में हमारी ३९ पुस्तकें प्रकाशित हुईं, जिनमें से इस समय इस माला में २४ हैं, और १० अन्य प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित हैं। माला की २४ पुस्तकों में से भारतीय शासन का आठवाँ संस्करण प्रचलित है। भारतीय विद्यार्थी विनोद, हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ, भारतीय जागृति, और निर्वाचन पद्धति के तीन-तीन संस्करण हुए हैं। भारतीय राजस्व, भारतीय अर्थशास्त्र, राजनीति शब्दावली और नागरिक शिक्षा का दूसरा संस्करण हुआ है। हिन्दी में अर्थ शास्त्र और राजनीति साहित्य, भारतीय सहकारिता आन्दोलन, विश्व वेदना, भारतीय चिन्तन, नागरिक कहानियाँ, ब्रिटिश साम्राज्य शासन, श्रद्धाञ्जलि, भारतीय नागरिक, भव्य विभूतियां, अर्थशास्त्र शब्दावली, कौटिल्य के आर्थिक विचार, अपराध चिकित्सा, पूर्व की राष्ट्रीय जागृति, गांव की बात, और, साम्राज्य और उनका पतन का प्रथम संस्करण चल रहा है। इन पुस्तकों में से चौदह श्री भगवानदास जी केला की लिखी हुई हैं, और तीन उन्होंने श्री प्रोफेसर दयाशंकर जी दुबे एम० ए० के साथ, एक श्री दुबे जी और गदाधर प्रसाद जी अम्बष्ट के साथ, एक श्री अम्बष्ट जी के साथ, और एक श्री जगनलाल जी गुप्त के साथ मिल कर लिखी है। तीन पुस्तकें श्री शंकरसहाय जी सकसेना एम० ए० की,

भूमिका

भाई भगवानदास जी केला हिन्दी के उन इने-गिने लेखको मे से हैं, जिनकी सारी ज़िन्दगी हिन्दी को सेवा मे बीत गई। दो दरजन से ऊपर उपयोगी और शिक्षाप्रद पुस्तके लिखने का उन्हे श्रेय मिल चुका है। जिस निस्स्वार्थ भाव से ज़िन्दगी भर रूखी-सूखी खाकर, उन्होंने हिन्दी साहित्य की यह सेवा की है, उसमे शायद ही कोई दूसरा लेखक उनका मुकाबला कर सके। मुझे करीब-करीब एक पीढ़ी से उनके साथ परिचय का सौभाग्य प्राप्त है। उनका परिचय और उनका प्रेम मेरे इस जीवन की सब से अधिक मूल्यवान पूजियों में से है।

अपनी इस पुस्तक "साम्राज्य, और उनका पतन" के कई अध्यायों का मसौदा छपने से पहले उन्होंने मुझे दिखाया। कई विषयों पर काफी बात-चीत हुई। यूँ तो जिन ग्यारह साम्राज्यों का थोड़ा-थोड़ा हाल उन्होंने इस छोटी-सी पुस्तक में दिया है, उनमें से किसी एक का पूरा इतिहास जानने के लिए भी आदमी को कई-कई ज़बानें सीखनी पड़ें, पूरी ज़िन्दगी उस एक के इतिहास को जानने से ही ख़र्च हो जाय, और फिर भी बड़े-से-बड़े इतिहासज्ञों में भी कुछ-न-कुछ घटनाओं और विचारों के बारे मे मतभेद रह ही जाता है। लेकिन जिस मेहनत, सचाई और निष्पक्षता के साथ केला जी ने इस पुस्तक की सामग्री जमा की है, और जितनी गहराई और हमदर्दी के

साथ अलग-अलग साम्राज्यों के उत्थान और पतन के कारणों की विवेचना की है, उसकी मैं तारीफ किये बिना नहीं रह सकता।

पुस्तक न किसी राजनैतिक दल का समर्थन करने के लिए लिखी गई है, और न किसी विशेष विचारों का प्रचार करने के लिए। इसका ढग शुद्ध वैज्ञानिक है, जिससे साम्राज्य संस्था के विश्वासी और उसके विरोधी दोनों सबक़ सीख सकते हैं, और दोनों लाभ उठा सकते हैं। विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक बड़े ही काम की चीज़ है। हिन्दी साहित्य में यह एक बहु-मूल्य वृद्धि है। मेरी प्राथना है कि जो भी हिन्दी-प्रेमी इस विषय से दिलचस्पी रखते हों, वह इस पुस्तक को जरूर पढ़े।

मैं केला जी का मश्कूर हूँ कि उन्होंने इस भूमिका के रूप में, मुझे इस पुस्तक के बारे में अपने विचार प्रकट करने का मौक़ा दिया।

५६ चक
इलाहाबाद

सुन्दरलाल

निवेदन

सन् १९२० ई० की बात है। पिछले योरपीय महायुद्ध के बाद मैंने प्रेम-महाविद्यालय, वृन्दावन, के मुख-पत्र 'प्रेम' में, 'साम्राज्यों का जीवन-मरण' शीर्षक तीन लेख लिखे थे, वे पीछे 'भारतीय चिन्तन' पुस्तक में संकलित किये गये। इस विषय की स्वतंत्र पुस्तक लिखनी, सन् १९३० ई० में आरम्भ की गयी। बीच में इसे वार्तालाप का रूप दिया गया था, पर पीछे वह हटा दिया गया। अब से चार वर्ष पहले पुस्तक समाप्त हो गयी थी, लेकिन इसके छपाने के लिए आर्थिक सुविधा न हो पायी। आखिर, सन् १९४० आ गया, और इसे छपाने का निश्चय किया गया।

बहुत से आदमी भोग-विलास, या व्यसनों के कारण निर्बल हो जाते हैं, और अन्त में कोई रोग उनकी मृत्यु का निमित्त या बहाना बन जाता है। इसी प्रकार मेरा विचार है कि चाहे साम्राज्यों की मृत्यु का अन्तिम कारण बाहरी हो (जैसे, दूसरों का आक्रमण), प्राय: उनका ह्रास पहले हो चुकता है। उनके विनाश का मुख्य कारण उनका नैतिक पतन होता है, और, कभी-कभी शारीरिक या मानसिक पतन भी। इसकी बहुत-कुछ जिम्मेवरी उन पर ही होती है। इस तरह, वे कुछ हद तक आत्म-हत्या के दोषी कहे जा सकते हैं। संसार में असंख्य साम्राज्य होकर चल बसे हैं। मैं तो यहा केवल एक दर्जन पर ही विचार कर सका हूं, और, वह भी बहुत संक्षेप मे। आधुनिक, या अपने निकट के साम्राज्यों को तो मैंने लिया ही नहीं। पर, जिनका विचार किया गया है, वे भी उदाहरण के लिए कम नहीं हैं।

हम बड़े इतिहास-प्रेमी बनते हैं। हम खंडहरों का अध्ययन करते हैं, पुराने शिला-लेखों के मिटे हुए या अस्पष्ट अक्षरों का अर्थ निकालने के लिए खूब मगज़-पच्ची करते हैं, पर जो इतिहास हमारे

पहला अध्याय

साम्राज्यों का निर्माण

"राजनीति, वेश्या की तरह, अनेक रूप वाली होती है।"

—भर्तृहरि

संसार के भिन्न-भिन्न स्थानों में बहुत से पुराने स्तूप, मीनार किले, महल या गुफाएँ अथवा इनके खँडहर हैं। कहीं-कहीं कोई दीवार, बुर्जी, मन्दिर या मसजिद आदि का भाग है। ये सब अपनी मौन भाषा में इस बात की साक्षी दे रहे हैं कि उन स्थानों में कभी बड़े-बड़े विशाल भवन थे, और ये भवन तत्कालीन जनता को राज्यों या साम्राज्यों के वैभव का परिचय दिया करते थे। वे बड़े साम्राज्य अब कहा हैं, उनका ह्रास या पतन कैसे हुआ, और किसने किया? क्या वे स्वयं ही इसके लिए कुछ दोषी नहीं हैं? ऐसी-ऐसी बातों का इस पुस्तक में विचार करना है। पहले यह जान लें कि साम्राज्यों का निर्माण कैसे होता है, और उनके कितने भेद होते हैं।

साम्राज्यों का प्रारम्भ—संसार में समय-समय पर अनेक साम्राज्य बने हैं। सबसे प्रथम साम्राज्य कहां और कब बना, यह विषय बहुत विवाद-ग्रस्त है। इसका सर्व-मान्य निर्णय नहीं हुआ। प्रायः

पाश्चात्य लेखक पुरानी सभ्यताओं को ईसामसीह से छः-सात हज़ार वर्ष ही पहले की मानते हैं। उनकी दृष्टि भूत काल में बहुत दूर तक नहीं जाती। हा, अब वैज्ञानिक अन्वेषणों और पुरातत्व सम्बन्धी खोज के कारण वे लाखों वर्ष पहले की भी बात सोचने को बाध्य हुए हैं। किन्तु भारतवर्ष पहले से ही अपनी सामाजिक या धार्मिक तथा राजनैतिक व्यवस्था का सम्बन्ध अतीत काल से, सृष्टि के आरम्भ से, जोड़ता आया है। यहा अनेक शास्त्रकारों ने अपने-अपने ढङ्ग से स्वायम्भू मनु से लेकर आधुनिक काल तक का कुछ क्रम-बद्ध विवेचन किया है। इस देश का विस्तार ही यहा वालों के विशाल दृष्टि-कोण का सूचक है। संसार के इतिहास में वह समय कितने महत्व का है, जब इतने बड़े भू-खंड की कल्पना स्थूल रूप से की गयी, और इसको, एक नाम 'भारतवर्ष' से सम्बोधित किया जाने लगा।

भरत-खड का विस्तार अति प्राचीन काल में कितना था, कितना भाग पहले स्थल था, और कहा समुद्र था, इस विषय में भू-गर्भ वेत्ताओं में मत-भेद है। किन्तु इसमे सन्देह नहीं कि उनके हिसाब से भरत-खण्ड में छोटे-बडे कितने ही राज्यों का समावेश होता था।

साम्राज्य-निर्माण और धर्म; चक्रवर्ती राज्य—

साम्राज्य जैसी विशाल सस्था किसी एक या दो बातों से ही नहीं बनती, समय-समय पर देश कालानुसार भिन्न-भिन्न बातें उसके निर्माण मे सहायक होती हैं। पहले इस बात का विचार करें कि

साम्राज्य बनाने में धर्म का क्या भाग रहा है। इसके लिए भारत-वर्ष का प्राचीन साहित्य बहुत सहायक है। यहां के शास्त्रों मे अश्वमेघ और राजसूय यज्ञ, तथा चक्रवर्ती राज्य का विस्तृत वर्णन है। यज्ञ करने वाला राजा यज्ञ से एक वर्ष पूर्व एक सुन्दर और बलवान घोड़ा छोड़ देता था। उसके साथ कुछ सैनिक होते थे। घोड़ा चारों दिशाओं मे जहां-तहां घूमता, यदि कोई इसे पकड़ लेता तो इसका आशय यह होता था कि वह यज्ञ करने वाले को चुनौती देता है; जब तक वह उसको न जीत ले, वह यज्ञ करने का अधिकारी नहीं। यदि कोई घोड़े को न पकड़े तो यह समझा जाता था कि कोई व्यक्ति यज्ञ करने वाले की बराबरी का, या उससे अधिक शक्तिशाली होने का, दावा नहीं करता, सब उसकी अधी-नता स्वीकार करते हैं। इस प्रकार प्रतिद्वन्द्वियों को विजय करके. अथवा सब की अधीनता सूचित हो जाने पर, यज्ञ किया जाता था; उसमें सब अधीन राजा भाग लेते थे, और यज्ञ करने वाले को उपहार या भेंट देते थे। यज्ञ की समाप्ति पर इसके करने वाले को 'महाराजाधिराज' की उपाधि मिलती थी। इस पराक्रमी राजा को अपने कृत्य के लिए शास्त्रों का आधार प्राप्त था; उनमें लिखा है कि चातुर्मास (वर्षा ऋतु) के अन्त में शूरवीर राजा सेना ले जाकर अन्य देशों को विजय करें, और राजसूय आदि यज्ञ करके चक्रवर्ती बने।

भारतीय पाठक इस चक्रवर्तित्व को देश की राजनैतिक शक्ति

के संगठन के लिए, तथा अन्य राज्य वालों से रक्षा के लिए अत्यावश्यक और अनिवार्य मान सकते हैं । परन्तु एक तटस्थ दर्शक के लिए यह सब क्या है ? यों तो प्रत्येक पक्ष के समर्थन में कुछ न कुछ तर्क या दलील उपस्थित की जा सकती है, परतु बाहरी आवरण को हटा कर देखिए, नग्न सत्य क्या है ? किसी राज्य पर, चाहे उसने आपका कुछ बिगाड़ा नहीं, आक्रमण कर देना, स्वयं बड़ा बनने के लिए दूसरों को अपने अधीन करना, उनसे थोड़ा-बहुत कर या भेंट लेना—यही तो चक्रवर्ती राजा बनने का कार्य-क्रम है । और, अपने राज्य को बढ़ाना, तथा दूसरे राज्यों को अपने अधीन करना, यह साम्राज्य-निर्माण की ही तो भावना है ।

साम्राज्य-निर्माण में धर्म प्रचारकों का भाग—धर्म-प्रचारकों ने साम्राज्य-निर्माण में ख़ासा योग दिया है। धर्मोपदेशक अपने राज्य या देश-बन्धुओं की सहायता पाकर अन्य देशों में गये, और वहां क्रमशः लोगों के धार्मिक विचारों में परिवर्तन किया । धीरे-धीरे इन नये विचार वालों की संख्या बढ़ती गयी, यहां तक कि देश में नये धर्म के साथ इनके प्रचारक भी आदर और सम्मान की दृष्टि से देखे जाने लगे, और यहा के निवासियों पर सैनिक विजय न होते हुए भी मानसिक-विजय पूर्ण रूप से हो गयी । इसका यह परिणाम कहीं-कहीं यह हुआ कि अन्ततः इस देश के आदमी धर्म-प्रचारकों के देश

की शासन पद्धति भी पसन्द करने लगे, और उसे अपने यहा प्रचलित करने के लिए वहा के राजनीतिज्ञों का, अपने शासकों के रूप में भी, अभिनन्दन करने लगे। कुछ ऐसे ही क्रम से प्राचीन काल में बौद्ध धर्म प्रचारकों ने लंका श्याम आदि को भारतवर्ष का उपनिवेश बनाया था।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि विदेशी मिशनरी या प्रचारकों के उद्योग से जहा कुछ आदमी नये धर्म को स्वीकार करने वाले हो जाते हैं, वहा उनके कुटिल प्रयत्नों से देश में धार्मिक या साम्प्रदायिक दलबन्दी भी हो जाती है, और नये सम्प्रदाय वालों का अपने देश-बन्धुओं से विरोध होने लगता है। विदेशी धर्म-प्रचारक तो यह चाहते ही रहते हैं कि देश में फूट और संघर्ष पैदा हो जाय। इस संघर्ष की वृद्धि का कारण बहुधा यह होता है कि पुराने धर्म वाले अपने इन बन्धुओं के प्रति सहिष्णुता का व्यवहार नहीं करते, वे इन्हें धर्म-च्युत और नास्तिक आदि समझ कर तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं; और, यह नया दल जोशीला तो होता ही है, साथ में विदेशियों का सहारा और उत्तेजना पाकर और भी उद्दंड और अविनयी हो जाता हैं। बस, जहां एक बार इन दोनों दलों की आपस में ठनी कि धर्म प्रचारकों ने नवीन विचार वालों का पक्ष लिया। ये अशान्ति के अत्युक्ति-पूर्ण संवाद भेज कर अपने देश वालों की, तथा अपने मतानुयायी अन्य देश वालों की, सहानुभूति प्राप्त कर लेते हैं, और

सैनिक शक्ति का प्रदर्शन करा कर इन नये प्रदेशों पर कुछ-न-कुछ राजनैतिक अधिकार प्राप्त कर लेते हैं, और एक अंश में अपने साम्राज्य की नींव डाल देते हैं। जैसा कि डाक्टर वी० शिवराम ने लिखा है, "केवल मिशनरियों के ही कार्य से आस्ट्रेलिया, फिजी, दक्षिण और मध्य अफ्रीका, सीलोयन, बर्मा और गायना आदि महत्वपूर्ण उपनिवेशों में ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ जमी। इन तमाम भू-भागों में व्यापारिक या राजनैतिक नियंत्रण होने से बहुत पहले मिशनरियों के अड्डे बन गये।"

आवश्यकता-पूर्ति—बहुधा जिन देशों में जीवन-निर्वाह की सुविधाएँ नहीं होतीं, या जहां के निवासियों की आवश्यकताएँ इतनी बढ़ जाती हैं कि वहां पूरी नहीं हो पातीं, उन देशों के आदमी बाहर निकल पड़ते हैं, तरह-तरह की मुसीबतें सह कर, नयी-नयी पृथ्वी की खोज करते हैं। जहां-कहीं अनुकूल या उपजाऊ भूमि पाते हैं, वहां बसने का प्रयत्न करते हैं। इसमें वहां के असली निवासियों से युद्ध ठनता है। यदि वे निर्बल होते हैं तो ये उन्हें जल्दी ही वश में कर लेते हैं, कुछ को मार-पीट कर शेष पर अपनी प्रभुता स्थापित करते हैं। और यदि, नये भू-भागों के आदमी बलवान होते हैं तो उनसे मित्रता का सम्बन्ध करते हैं, अथवा यदि आवश्यक जान पड़े तो प्रकट रूप से उनकी अधीनता भी स्वीकार कर लेते हैं। पीछे ज्यों-ज्यों उपयुक्त अवसर पाते हैं, ये अपना बल बढ़ाते रहते हैं, और कालान्तर में उसे अपना उपनिवेश बना डालने की

फिकर में रहते हैं। पन्द्रहवीं सोलहवीं शताब्दी में हालैंड, फ्रांस, स्पेन और इंगलैंड आदि के निवासी संसार के विविध भागों में गये; जहां अनुकूलता मिली, वहां ही उन्होंने बसने या अपने उपनिवेश स्थापित करने का प्रयत्न किया; इसका मुख्य कारण इनका, अपनी तत्कालीन परिस्थिति से, असन्तुष्ट होना, तथा उनकी भौतिक आवश्यकताओं का अपने देश में पूरा न हो सकना था।

व्यापार—व्यापार से भी साम्राज्य-निर्माण में बड़ी सहायता ली जाती है। साहसी आदमी आर्थिक लाभ के लिए, अनेक कष्ट उठा कर विदेशों में जाते हैं, वहां राजा-महाराजाओं से ही नहीं, साधारण सरदारों या दरबारियों के प्रति भी अनुनय-विनय और शिष्टाचार दिखा कर, उन्हें चित्ताकर्षक वस्तुओं की भेंट देकर छोटी-छोटी व्यापारिक सुविधाएँ या एकाधिकार प्राप्त करते हैं। ये वहां के अधिकारियों के नाज़-नख़रे उठा कर भी उनकी कृपा-दृष्टि बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार व्यापार के नाते अपने पांव जमा कर, सैनिक तथा राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने के वास्ते ये अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करते हैं। जब कभी वहां के विविध अधिकारियों में मनोमालिन्य होता है, अथवा इन व्यापारियों के कूटनैतिक कौशल से फूट हो जाती है, तब इनकी बन आती है, और ये एक का पक्ष लेकर दूसरे पर विजय पाने का भरसक प्रयत्न करते हैं, और पीछे, उसकी शक्ति का क्षय हो जाने पर, ये अपने सहयोगी को तो सहज ही अपने अधीन कर लेते हैं; और, इस प्रकार

अपनी बढ़ी हुई शक्ति का, क्रमशः दूसरों को पराजित करने मे, उपयोग करते हैं।

कभी कभी ये विदेशी व्यापारी अपने व्यापार का विस्तार करके देश को आर्थिक दृष्टि से अपने अधीन करते जाते हैं। देशी व्यापारी मुह ताकते रह जाते हैं, सब बाजार और मडिया इनके हाथ से निकल जाती हैं। यदि सयोग से वह देश विदेशी व्यापारियों की चालों को समझ कर इनके चगुल से मुक्त होने का प्रयत्न करता है, तो ये अपने हितों की रक्षा की दुहाई देकर उससे युद्ध ठान देते है। इसमें इन्हें अपने मातृ-देश का सहारा मिलता है। विदेशी व्यापारियों के सामने एक-मात्र लक्ष्य धनो-पार्जन करना रहता है, और वे देश के निवासियों में मादक पदार्थ तथा विलासिता की वस्तुओं का प्रचार करने में कुछ भी संकोच नही करते। व्यापार की रक्षा के नाम पर तोप बन्दूक आदि युद्ध-सामग्री का प्रदर्शन ही नहीं, प्रत्यक्ष उपयोग किया जाता है। इस प्रकार व्यापार राज्य विस्तार का, साम्राज्य-निर्माण एवं वृद्धि का, साधन होता है। भारतवर्ष मे ईस्ट इडिया कम्पनी द्वारा बगाल विहार, उड़ीसा और पीछे अवध आदि का अधिकृत किया जाना, तथा चीन मे पाश्चात्य राज्यों का क्रमशः प्रवेश इसी ढङ्ग से हुआ है।

व्यापार का साम्राज्य-निर्माण में ऐसा महत्व है कि बहुत-से साम्राज्य-सूत्रधार उपजाऊ देशों को अपने शासनाधीन रखने का

मुख्य लाभ यही मानते हैं, कि वहा उनका व्यापार सम्बन्धी प्रभुत्व रहे, व्यापार से होनेवाले लाभ के वे एक-मात्र अधिकारी हों, तथा कोई दूसरा उसमें भागीदार या प्रतिद्वन्दी न हो।

महाजनी--महाजनी अर्थात् रुपया उधार देने से भी साम्राज्य-निर्माण का मार्ग प्रशस्त होता है। अमरीका के भूत-पूर्व राष्ट्रपति श्री० वुडरो विलसन के इस कथन मे बहुत सच्चाई है कि 'पूँजी की चाले विजय की चाले हैं।' राज-तृष्णा वालों से जो देश कुछ उधार ले लेता है, उसे सदैव उनसे दबना पड़ता है। वह उन्हें व्यापारिक ही नहीं, कालान्तर मे पुलिस और फ़ौज रखने की भी, सुविधाएँ प्रदान करने को बाध्य होता है। ऋण देने वाले उस समय की प्रतीक्षा करते रहते हैं, जब ऋण (और सूद) की रक़म काफी बढ़ जाय, और वे ज़मानत के रूप में उस देश का कोई भू-भाग ले सके। वे समय-समय पर उसे ऐसे प्रलोभन देते रहते हैं कि सड़कें, नदी, रेल, तार टेलीफोन आदि बनाने अथवा सुप्रबन्ध करने आदि के लिए अधिकाधिक रुपया उधार ले। इन कामों के लिए वे अपने भाई-बन्धुओं की सेवाएँ भी प्रदान करते हैं। यदि इसमे उन्हें सफलता मिल जाती है, तो एक बड़ी मंजिल तय हुई समझिए, आगे का मार्ग और सरल हो जाता है।

महाजन से एक बार बड़ी रक़म, या कई बार छोटी-छोटी रक़में उधार लेने वाला मज़दूर या किसान, बहुधा चिरकाल तक उसका दासानुदास हो जाता है। कई बार ऐसा भी देखा

जाता है, कि उस रुपए के केवल सूद को अदा करने के लिए ही वह अपना एक लड़का उसके यहां नौकर रख देता है। फिर, अनेक प्रयत्न करने पर भी उसे मुक्ति-पत्र नहीं मिलता। यह बात व्यक्तियों की है। और, ऐसी ही बात बड़े पैमाने पर, देशों की है। इसके उदाहरणों की इतिहास में कमी नहीं। ईरान, चीन, मिश्र आदि में अंगरेज़ों का हस्तक्षेप इसी प्रकार हुआ। अभी हाल (सन् १९४० ई०) की बात है, इगलैंड ने अपने कुछ द्वीप संयुक्त राज्य अमरीका के पास रहन रख कर उनसे लड़ाई के लिए विध्वंसक जहाज आदि लिये हैं। इन टापुओं का प्रबन्ध निर्धारित अवधि तक अमरीका के आधीन रहेगा।

सभ्यता—साम्राज्य-निर्माता अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अन्यान्य बातों में सभ्यता-प्रचार का भी आश्रय लेते हुए पाये जाते हैं। ये 'अवनत' या 'असभ्य' देशों में जाकर वहां के लोगों को उनकी रीति-भांति या रहन-सहन आदि के दोष खूब बढ़ा-चढा कर, परन्तु आकर्षक ढङ्ग से, दिखाते हैं, और उनके सामने अपने ऊँचे दर्जे के रहन-सहन का उदाहरण उपस्थित करते हैं, तथा उनमें ऐसी आवश्यकताओं की माग बढ़ा देते हैं, जिनकी पूर्ति के लिए उन्हें इन विदेशियों का आश्रय तकना पड़े। इस प्रकार ये अपना आर्थिक लाभ करते हैं। परन्तु इससे बढ़ कर उनका यह प्रयत्न होता है कि किसी प्रकार नवयुवक उनसे शिक्षा पाने लग जायँ। वे बहुत मनोरंजक और आकर्षक ढङ्ग से, नाम-मात्र के व्यय से अथवा

निश्शुल्क ही नवयुवकों की शिक्षा की व्यवस्था करते हैं। भावी नागरिकों की शिक्षा को अपने हाथ में कर लेने से, वे एक प्रकार से अपने राज्य की नींव दृढ़ कर लेते हैं और उसे (गुप्त) रूप से स्थायी बनाने में सहायक होते हैं। इस बात को ध्यान में रखने से ही हम भारत-सरकार के सौ वर्ष पहले के क़ानूनी सलाह-कार मेकाले के निम्नलिखित शब्दों का वास्तविक महत्त्व समझ सकते हैं। उसने भारत में अंगरेज़ी शिक्षा प्रचलित करने का समर्थन करते हुए कहा था, "हमें अपनी सारी शक्ति लगा कर ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि हम भारतवासियों की एक ऐसी श्रेणी तैयार कर सकें, जिसके आदमी हमारे, और हमारी लाखों प्रजा के बीच दुभाषिये का काम कर सकें, जो रक्त और रंग में तो भारतीय ही रहें, परन्तु रुचि, विचार, भाषा और भावों में पूरे अंगरेज़ हों।" इस प्रकार किसी देश में रक्त और रंग में स्वदेशी, और, रुचि विचार, भाषा, और भावों में विदेशी, आदमियों की संख्या बढ़ाना साम्राज्यवादी सभ्यता-प्रचारकों का ख़ास काम होता है।

साम्राज्य-निर्माण के अन्य कारण—हमने ऊपर साम्राज्य-निर्माण के कुछ कारणों का विचार किया है। इनके अतिरिक्त; अन्य कारण भी हो सकते हैं। कभी-कभी किसी राष्ट्र के प्रमुख व्यक्ति सोचते हैं, 'हम संसार में सब से श्रेष्ठ हैं, हमारा धर्म सब से उत्तम है, या हम सब से बलवान, ज्ञानवान और सभ्य हैं। हमारी प्रभुता इस जाति या राष्ट्र तक ही परिमित क्यों रहे ! हमें तो दुनिया भर में अपनी सत्ता

स्थापित करनी है।' ये अपनी सीमा को उलंघन करके क्रमशः दूसरी जाति पर अपने धर्म, बल, व्यवसाय, सभ्यता आदि की धाक जमाते हैं, और उसे न्यूनाधिक अपने अधीन कर लेते हैं। यह साम्राज्य-निर्माण ही की तो भावना है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि ऐसी बातें साम्राज्य-निर्माण मे सहायक हो जाती हैं, जिनके विषय मे पहले कोई ऐसा अनुमान नहीं करता। उदाहरणवत् योरप के कुछ राज्यों को धार्मिक असहिष्णुता से भी साम्राज्य बनाने में सहायता मिली है; हा, गौण रूप से। मध्य काल में जिन लोगों को अपने विशेष प्रकार के धार्मिक विचारों के कारण दूसरों के अत्याचार सहने पड़े, और वहा रहना कठिन हो गया, वे स्थल या जल मार्ग से, जिधर रास्ता मिला, चल निकले। इनका कहीं ठौर-ठिकाना न था, कोई लक्ष्य-स्थान न था। बहुतेरों की जीवन-लीला इधर-उधर भटकने में ही समाप्त हो गयी। पर कभी-कभी इनमें से कुछ ने आशातीत सफलता भी प्राप्त की। ऐसे ही कुछ अंगरेज़ों की कष्ट-सहिष्णुता और साहस के फल-स्वरूप मध्य काल में अमरीका के भिन्न-भिन्न भागों तथा टापुओं में ब्रिटिश उपनिवेशों की स्थापना हुई।

साम्राज्य-निर्माण और जाति-श्रेष्ठता—बहुत-से आदमियों के विचार से जाति-श्रेष्ठता और साम्राज्य-निर्माण का घनिष्ट और अनिवार्य सम्बन्ध है। कुछ का कथन है कि जब कोई जाति चरम उन्नति प्राप्त कर लेती है, तो वह अवश्य साम्राज्यवादी बन जाती है। दूसरों

का मत है कि संसार की कुछ खास-खास जातिया श्रेष्ठ हैं, और अन्य सब निम्न श्रेणी की हैं। श्रेष्ठ जातिया ही साम्राज्य निर्माण करती हैं, एव जो जातिया साम्राज्य बनाती हैं, वे अवश्य ही उन्नत और श्रेष्ठ होती हैं। परन्तु यह बात इतिहास से सिद्ध नहीं होती। उदाहरणवत् इंगलैंड, फ्रास, जर्मनी, इटली और जापान के साम्राज्यों की बात लीजिए। ये भिन्न-भिन्न जातियों के हैं। क्या ये सभी जातिया श्रेष्ठ हैं ?

जापान की ही बात लीजिये। केवल सत्तर-पिछत्तर वर्ष हुए, वह पुरानी रूढ़ियों में फॅसा हुआ था। सन् १८६५ ई० में योरप की विविध शक्तियों ने उससे ज़बर्दस्ती सधि की। तबसे उसने अपनी उन्नति की ओर ध्यान दिया। १९०५ में उसने रूस को हरा दिया। उसने अपनी सीमा में अवरुद्ध न रह कर बाहर हाथ पांव फैलाना आरम्भ किया, और अब वह पूरा साम्राज्यवादी बन बैठा है। तो क्या जापानी अब श्रेष्ठ जाति के हो गये हैं, और, पहले श्रेष्ठ नहीं थे ?

कुछ समय पूर्व तक योरप की जर्मन, फ्रासीसी आदि जातियों को अपनी श्रेष्ठता का ऐसा अभिमान था कि काली पीली जातियों को निम्न श्रेणी की समझ कर उनसे असहयोग-सा किया करती थीं। पर पिछले योरपीय महाभारत (सन् १९१४-१९) का संकट उनके सिर पर आया तो वे अपना सब अभिमान भूल गयीं। आपस में लड़ते हुए उन्होंने एशियाई जातियों की सहायता प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न किया। अंगरेज़ और हिन्दुस्तानी परस्पर मिलकर अपने विपक्षी से लड़े।

रूस पहले प्रबल साम्राज्यवादी था, अब साम्राज्य-निर्माण का विरोधी है, तो क्या अब उसकी श्रेष्ठता जाती रही, अथवा वह अब कम उन्नत है ? उसकी उन्नति संसार को चकित कर रही है, सब उसके आर्थिक कार्य-क्रम के प्रयोगों और योजनाओं को बड़ी उत्सुकता से देख रहे हैं।

इन बातों से स्पष्ट है कि कोई जाति सदैव साम्राज्यवादी अथवा सदैव अ-साम्राज्यवादी नहीं रहती, अतः जाति-श्रेष्ठता का उपर्युक्त सिद्धांत ठीक नहीं है। संसार में सर्वत्र नैतिक बल ही विजयी नहीं होता, शारीरिक बल का भी यथेष्ट महत्व है। बहुधा असभ्य जातियों ने अपने शरीर-बल से, उच्च समझी जाने वाली जातियों पर प्रभुत्व स्थापित किया है। हां, आज-कल भौतिक विज्ञान की उन्नति का युग है, जो जाति इसमें अग्रसर होगी उसे ही साम्राज्य की स्थापना या विस्तार में अधिक सफलता मिलने की आशा है। परन्तु, भौतिक विज्ञान की उन्नति ही, जातीय श्रेष्ठता की परिचायक नहीं है; यह तो उन्नति की बहुत नीचे की मंजिल है, और जो जातियां इसके साथ ही नैतिक उन्नति नहीं करती, उनका उच्चासन अस्थिर और डांवाडोल है।

साम्राज्य-निर्माण और शासन-पद्धति—कुछ लोगों का विचार है कि एकतंत्र शासन पद्धति वाले राज्य ही साम्राज्य बनाया करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इतिहास में कुछ समय पहले तक राजा बादशाह ही विजय करने वाले हुआ करते थे। परन्तु वह सैनिक साम्राज्यवाद

की बात रही, अब तो राज्य अपने धन के द्वारा अन्य देशों के आर्थिक और राजनैतिक जीवन को नियन्त्रित करने लगे हैं; ऐसी दशा में उनका एकतन्त्रीय होना आवश्यक नहीं है। अमरीका अपने प्रजातंत्र-शासन के लिए प्रसिद्ध है, पर वह अपने पूँजीपतियों, धनी बैंकों के सहारे प्रथम श्रेणी के (आर्थिक) साम्राज्यवादियों मे गिना जा सकता है। यही बात वर्तमान महासमर से पहले के फ्रास के सम्बन्ध में कही जा सकती है। उसकी प्रजातन्त्र सरकार कुछ थोड़े से पूंजीपतियों और धनवान राजनीतिज्ञों के हाथ में थी; और उसकी साम्राज्यवाद की भावना अन्य साम्राज्यवादियों से किसी प्रकार कम न थी। इससे स्पष्ट है कि कोई राज्य अपने यहां प्रजातन्त्र शासन रखते हुए भी साम्राज्यवादी हो सकता है।

साम्राज्य-निर्माण और युद्ध—साम्राज्य-निर्माण क्या है? कुछ अपवादों को छोड़ कर दूसरे देशों, जातियों या राज्यों पर अपनी धाक जमाना, हकूमत कायम करना, यही साधारणतया साम्राज्य-निर्माण की भावना होती है। हम तुमसे बड़े हैं, तुम हमारा बड़प्पन स्वीकार करो, नहीं तो आजाओ मैदान में! इस बात को कोई नर्मी से कहता है, कोई सख्ती से। ढङ्ग अलग अलग हैं, पर बात वही है। साम्राज्य-निर्माण का अर्थ थोड़े-बहुत समय मे युद्ध, या युद्ध की तैयारी होता है। हम किसी-न-किसी रूप मे दूसरों को विजय करना चाहते हैं। और, यह विजय का नशा भी कैसा होता है! इसके नशे में, विजय प्राप्ति की आकाक्षा में आदमी निर्दोष, निहत्थे, बच्चों और बूढ़ों का,

स्त्रियों और रोगियों, साधू सन्तों तथा परोपकारी व्यक्तियों तक का, संहार करने में तनिक भी संकोच नहीं करते। युद्ध का परिणाम क्या होता है, इसका विचार नहीं करते। विजय का नग्न और वास्तविक रूप क्या है! सनाथों का अनाथ होना, सधवाओं का विधवा होना, आनन्द-मंगल की जगह शोक और विलाप, धन धान्य से पूर्ण भूमि की जगह वीरान और श्मशान का दृश्य! प्रायः ऐसे ही परिणाम वाले युद्धों के आधार पर साम्राज्य बनते हैं, और उनके संस्थापक अपनी कृति का अभिमान किया करते हैं!

दूसरा अध्याय

साम्राज्यों के भेद

समय को युगों में और मनुष्यों को श्रेणियों मे बाँट कर देखने का ढग चल पड़ा है। इस पद्धति से आलोचक को सुभीता होता है। सचाई कट-छट कर जैसे विवेचन में आने लायक हो जाती है। इतिहास के लिए यह पद्धति सुगम है, शायद उसके लिए यह अनिवार्य भी हो। पर मुझे मालूम होता है कि अन्ततः वह काम, चलाऊ ही है, और स्वय में इतनी सच्ची नहीं है। —जैनेन्द्रकुमार

साम्राज्य किन-किन कारणों से बनते हैं, इस बात का विचार पिछले अध्याय में किया जा चुका। अब हमें यह देखना है कि साम्राज्य कितनी तरह के होते हैं, और भिन्न-भिन्न प्रकार के साम्राज्यों मे क्या-क्या विशेषताएँ होती हैं। प्रायः एक तरह के साम्राज्य के कुछ लक्षण दूसरी तरह के साम्राज्य में भी पाये जाते हैं। इसलिए साम्राज्यों का कोई वर्गीकरण विशुद्ध नहीं होता। प्रधान गुण को लक्ष्य में रख कर, स्थूल रूप से उनके निम्नलिखित भेद किये जा सकते हैं:—

१—धार्मिक साम्राज्य,

२—सभ्यता-प्रचारक साम्राज्य,

३—सैनिक साम्राज्य, और

४—आर्थिक साम्राज्य।

वर्तमान साम्राज्यों का प्राचीन साम्राज्यों से महान अन्तर हो गया है। अब साधारणतया केवल 'साम्राज्यवाद' कहने से उसकी आधुनिक (आर्थिक) भावना की ही कल्पना की जाती है। यह साम्राज्यवाद विशेषतया पिछली शताब्दी के अन्तिम चरण का ही प्रसाद माना जाता है। अस्तु, साम्राज्यों का एक वर्गीकरण यह भी हो सकता है :—

(क) प्राचीन साम्राज्य, और

(ख) आधुनिक साम्राज्य

अब इन भेदों पर क्रमशः विचार किया जाता है

धार्मिक साम्राज्य—पहले बताया जा चुका है कि अति प्राचीन काल में चक्रवर्तित्व प्राप्त करने के लिए, भारतवर्ष में, यज्ञ किये जाते थे। यज्ञ धार्मिक अनुष्ठान थे। धर्म की प्रेरणा से ही यह साम्राज्य-विस्तार का कार्य किया जाता था। यह कार्य धर्म-ग्रंथों और शास्त्रों से अनुमोदित होता था। अतः इस प्रकार निर्माण किया हुआ साम्राज्य, धार्मिक साम्राज्य कहा जाता है। यद्यपि इसमें जिस साधन का उपयोग किया जाता था, वह शारीरिक शक्ति या सैनिक बल ही था; तथापि यह बल एक साधन मात्र था, साम्राज्य-भावना इस बल पर निर्भर नहीं करती थी। चक्रवर्तित्व की भावना में 'धर्म' की प्रधानता थी। अस्तु, यह धार्मिक सम्राज्य का एक भेद हुआ।

इसके अतिरिक्त धार्मिक साम्राज्यों का एक दूसरा भेद भी है। इसमें ऐसे साम्राज्य लिये जा सकते हैं, जिनमें सैनिक बल को तिलांजलि दे दी गयी, और सारा विधान धर्म के सिद्धान्तों पर ठह-राया गया। ऐसे धार्मिक साम्राज्य का अच्छा उदाहरण हमें अशोक के साम्राज्य मे मिलता है। सम्राट् अपने राज्य-विस्तार के लिए दूर-दूर धर्म-प्रचारक भेजता है, और अधिक-से-अधिक भू-भाग को अपने अधीन करने की इतनी भावना नहीं रखता, जितनी इस बात की, कि बौद्ध धर्म की ध्वजा सर्वत्र फहराने लगे। उसकी यह कामना नहीं है कि अधीन प्रजा उसके वैभव को बढ़ाये, या उसे धन प्रदान करे। सम्राट् स्वय बहुत सादगी का जीवन बिताता है, पर वह चाहता है कि बौद्ध धर्म यथा-सम्भव संसार भर में फैल जाय।

जिन-जिन देशों में एक धर्म का प्रचार होता है, उन सब देशों को एक साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं माना जाता। उदाहरणवत् चीन जापान में बौद्धधर्म फैलजाने से वे अशोक के साम्राज्य के अग नहीं हुए। साम्राज्य का क्षेत्र वहां तक ही माना जाता है, जहा तक सम्राट् का राजनैतिक अधिकार हो।

प्रभु ईसामसीह के अनुयायी जब दूसरे देशों को अपने अधिकार में लाना चाहते थे तो बहुधा धर्म की ही भावना मुख्य बताते थे, यह पिछले अध्याय मे बताया जा चुका है। वे उन देशों के निवासियों से कहते, "हम तुम्हे (बाइबल का) धर्म-संदेश सुनाना चाहते हैं, जिससे तुम्हे यहाँ के क्षणिक जीवन के बाद स्वर्ग का स्थायी निवास मिले, और नर्क का कष्ट न सहना पड़े। पूर्व-मध्य-काल में (सन् ८०० से

१५५८ ई० तक) योरप में भी धार्मिक साम्राज्य का बोल-बाला था। भिन्न-भिन्न राज्य रोम के प्रधान पोप की आज्ञाओं के चेरे थे। किसी का यह साहस न था कि अपने धर्म-पिता पोप की आज्ञा का उलंघन करे। पोप ने स्पेन और पुर्तगाल में सारे साम्राज्य का बँटवारा कर दिया। वह साम्राज्य 'होली रोमन ऐम्पायर' (पवित्र रोमन साम्राज्य) कहलाता था।

सभ्यता-प्रचारक साम्राज्य—समय के साथ लोगों के विचार बदले। धर्म या मज़हब पर से उनकी श्रद्धा कम हुई। और, इसके नाम पर शोषण करना मुश्किल हो गया। अब साम्राज्य-निर्माताओं का केवल धार्मिक वेश से काम न चल सका, उन्हों ने सभ्यता-प्रचार की आड़ ली। वे कहने लगे कि 'असभ्यों को सभ्य बनाने का भार हम पर आ पड़ा है, मूर्खों को ज्ञानवान बनाना हमारा कर्तव्य है।' संसार की भोली-भाली जातियों ने उनके इस दावे को स्वीकार कर लिया। इतिहास के पाठक जानते हैं कि इन सभ्यता-भिमानी साम्राज्यों ने अनेक जातियों को समूल नष्ट कर दिया, अथवा उन पर ऐसी मानसिक विजय प्राप्त कर ली कि उन्हें अपनी प्रत्येक बात व्यवहार में हीनता का आभास होने लगा, उन्हें अपनी सभ्यता, अपनी संस्कृति, अपनी भाषा, अपना धर्म, अपना रहन-सहन, सब तुच्छ प्रतीत होने लगा। इसके विपरीत, उन्हें शासकों की प्रत्येक बात अच्छी जँचने लगी। कालान्तर में उसमें उन्हें गुण ही गुण दिखायी देते हैं। वे अपने को असभ्य, और

शासकों को सभ्य, अपने को शिष्य, और शासकों को गुरु, समझते हैं। वे यह विश्वास करते हैं कि साम्राज्यवादी शक्ति ने हमें बचा लिया, हमें सभ्य बना दिया, नहीं तो हम क्या थे। वे इतने हीन हो जाते हैं कि उस बड़ी शक्ति के बिना, उन्हें अपना ठहरना कठिन प्रतीत होता है।

सैनिक साम्राज्य——सैनिक साम्राज्यों के संस्थापक भी अपने कार्य के लिए थोड़ी-बहुत धर्म की दुहाई देते हैं, परन्तु उनमें महात्वाकांक्षाएँ होती हैं, भुजाओं में बल होता है, उनका उत्साह उन्हें शान्ति से बैठने नहीं देता। लड़ने-भिड़ने में, मरने-मारने में उन्हे आनन्द आता है। उनके व्यक्तित्व में ऐसा आकर्षण होता है, जो अन्य उत्साही व्यक्तियों को उनका अनुयायी बन कर उनकी विजय-पताका दूर-दूर तक ले जाने के लिए प्रेरित करता है। अवश्य ही सेनापति अपने सैनिकों को वेतन अथवा लूट-मार का प्रलोभन देते हैं, पर अनेक व्यक्ति मुख्यतया अपना पराक्रम दिखाने का अवसर पाने के लिए भी युद्धों में भाग लेते हैं।

यद्यपि भारतवर्ष के अति प्राचीन चक्रवर्ती राज्यों को भी अपने बाहु-बल या सैनिक शक्ति का बड़ा भरोसा रहता था, उनका आधार धार्मिक होता था। सैनिक सम्राटों में कुछ प्रसिद्ध उदाहरण सिकन्दर, सीजर, और नेपोलियन हैं। ये चाहते थे कि सर्वत्र हमारी धाक हो, हमारी शक्ति को सब माना करें, हम दूर-दूर तक जनता के स्वामी हों; सेनापति, सरदार, राजा और नरेश

हमारी आज्ञा में चलने वाले हों। चंगेज़ख़ाँ का साम्राज्य इन साम्राज्यों से भी कहीं अधिक 'सैनिक साम्राज्य था।

इन साम्राज्यों का आधार सैनिकता होती है। जब तक इनमें विशाल शूरवीर सेना और सुयोग्य संचालक रहते हैं, और प्रधान नायक बलवान, प्रतिभाशाली और संगठन-कुशल होता है, इन साम्राज्यों का अस्तित्व बना रहता है। इस बात के अभाव में इन का अन्त हुआ ही समझो। सैनिक साम्राज्यवाद पर जब धर्म या सभ्यता आदि का आवरण नहीं होता तब यह शीघ्र पहिचान लिया जाता है; यही नहीं, इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया भी जल्दी होने लगती है।

आर्थिक साम्राज्य—मनुष्यों के बहुत-से कार्यों या आन्दोलनों के मूल में धन-तृष्णा होती है; हाँ, बहुधा वे इसे धार्मिक आदि रूप देकर दूसरों में अपनी निष्काम भावना की घोषणा किया करते हैं। भौतिक विचारों की प्रधानता के समय, अनेक जातियाँ दूसरों पर राजनैतिक प्रभुत्व की अपेक्षा आर्थिक प्रभुत्व रखने की अधिक इच्छुक होती हैं; अथवा, यह भी कहा जा सकता है कि उनकी राजनैतिक सत्ता का मुख्य उद्देश्य यह रहता है कि इसके द्वारा उन्हें अधीन देश में व्यापार करने की विशेष सुविधाएँ मिलें, वे वहाँ के निवासियों में अपना तैयार माल खूब खपा सकें, एवं अपने अन्य प्रतिद्वन्द्वियों को ऐसा करने से रोकने के लिए नाना प्रकार के क़ानून-क़ायदे बना सकें।

अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में, योरप में औद्योगिक क्रान्ति हुई, विशेषतया तब से ही आर्थिक साम्राज्यवाद का प्रादुर्भाव हुआ। इस साम्राज्यवाद की भावना पिछली शताब्दी में विकसित हुई। यह अधिकतर उन राज्यों में होती है, जो औद्योगिक दृष्टि से उन्नत हों। बात यह है कि उन्हें अपने उद्योग-धन्धो के लिए कच्चे माल की ज़रूरत होती है, तथा अपने तैयार माल को बेचने के लिए अनुन्नत तथा कृषि-प्रधान देशों के बाजारों पर अधिकार जमाने की चिन्ता रहती है। पहले इन साम्राज्यों को अधिकतर रुई बेचने, और कपड़ा मोल लेने वालों की खोज रहती थी। पीछे पूँजीपति देशों को कपड़े से बढ़ कर लोहे और फौलाद की ज़रूरत होने लगी। इनसे ये रेल, जहाज़ और नाना प्रकार के यंत्र आदि बनाते हैं। इन्हें कोयले, मिट्टी के तेल, रबड़, नील आदि की भी ज़रूरत होती है। जहाँ ये वस्तुएँ मिल सकती हैं, उन देशों पर ये अधिकार जमा लेना चाहते हैं।

आर्थिक साम्राज्य के सूत्र, व्यापारियों के अतिरिक्त, पूँजीपतियों महाजनों या बैंकों के हाथ में होते हैं। समृद्धिशाली देशों में थोड़े-बहुत समय पीछे ऐसी अवस्था आ जाती है, जब इनके पूँजीपतियों को विदेशों में धन लगाना अधिक लाभदामक रहता है। विदेशों में धन लगा कर, ये वहाँ क्रमशः अधिकाधिक सुविधाएँ प्राप्त करते हैं। इनका अधिकार बढ़ता जाता है, और साम्राज्य-विस्तार होता जाता है।

अस्तु, आर्थिक साम्राज्यवाद की मार या चोट सैनिक साम्राज्य की भाँति प्रत्यक्ष नहीं होती, वह सभ्यता-प्रचारक साम्राज्य की तरह गुप्त होती है, विजित होने वाली जातियों को शीघ्र उसका अनुभव नहीं होता; बहुधा जब उन्हें उसके फल की कटुता मालूम होती है, तो मर्ज़ ला-इलाज़ हो चुकता है।

ऊपर हमने साम्राज्यों के एक वर्गीकरण के अनुसार विचार किया। अब दूसरी दृष्टि से विचार करें। पहले कहा गया है कि प्राचीन और अर्वाचीन साम्राज्यों में महान अन्तर हो गया है। यह भेद क्या है?

प्राचीन और आधुनिक साम्राज्यों के भेद—प्राचीन काल में आज-कल, की भाँति जाने-आने तथा समाचार भेजने आदि के विविध वैज्ञानिक साधन न रहने के कारण प्रायः प्राचीन साम्राज्य अपेक्षाकृत छोटे होते थे, तथा वे अधिकतर स्थल भाग पर ही होते थे। उनके भिन्न भिन्न भाग स्थल में एक-दूसरे से मिले हुए रहते थे; अथवा, उनके बीच में नदी या सागर का फासला थोड़ा-सा ही होता था। वे केन्द्रीय स्थान से क्रमशः आगे बढ़ते थे, और अपनी सीमा से मिले हुए पड़ोसी राज्य को पराजित करने के बाद ही आगे के भू भागों को जीतने का विचार करते थे; बीच में किसी स्वतंत्र राज्य का, या अन्य साम्राज्य के अधीन भाग का, रहना उन दिनों सुविधाजनक न था। अब यह बात नहीं रही। आधुनिक साम्राज्यों के भिन्न-भिन्न भाग या टापू बहुधा एक-दूसरे से बहुत दूर

भी होते हैं। उनके बीच में बड़े-बड़े समुद्र होते हैं, परन्तु वैज्ञानिक साधनों के कारण, अब ये समुद्र साम्राज्यों के विविध भागो को पृथक-पृथक् करने वाले न समझे जाकर, एक तरह से उन्हें मिलाने वाले ही माने जाते हैं।

प्राचीन और नवीन साम्राज्य नीति—प्राचीन भारतीयों की साम्राज्य सम्बन्धी कल्पना तथा नीति यह थी कि किसी विजित राज्य की राष्ट्रीयता नष्ट न की जाय, उसके आन्तरिक शासन-प्रबन्ध में कुछ हस्तक्षेप न किया जाय, जहा तक सम्भव हो, विजित राज्य के राज-परिवार को पदच्युत न कर उसी के किसी सुयोग्य व्यक्ति को उत्तराधिकारी बनाया जाय; हाँ, यह व्यक्ति ऐसा हो जो सम्राट् की प्रभुता को मानता हो, सम्राट् द्वारा किये जाने वाले सार्वजनिक उत्सव या यज्ञ आदि में उपस्थित होना तथा अपनी हैसियत के अनुसार अच्छी भेंट देना स्वीकार करता हो। इस प्रकार साम्राज्य में अनेक राजाओं को राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त होती थी, सब अपने-अपने क्षेत्र मे अपना कायदा-कानून और शासन-नीति प्रचलित करते थे। इनमें जो प्रबल तथा प्रमुख होता था, वह सम्राट् या महराजाधिराज की पदवी ग्रहण करता था। इस पद को धारण करने से पूर्व, उसे राजसूय यज्ञ करना होता था। इस यज्ञ के लिए उसके मित्र तथा 'अधीन' (भेंट देने वाले) राजागण अपनी सम्मति देते थे। इस तरह, एक प्रकार से सम्राट् का चुनाव होता था, और जिसे अधिक राजा महराजा बलवान और

प्रतापी समझते, वही इस पद को ग्रहण करने का अधिकारी माना जाता था। सम्राट् का प्रत्यक्ष शासन केवल अपने अधिकृत या पैतृक राज्य पर होता था। अन्य भागों में अन्य स्वतंत्र राजा होते थे, सबके अपने-अपने राष्ट्रीय राज्य थे। साम्राज्य भर में एक ही स्वतंत्र शासक हो, और अन्य सब शासक उसकी अधीनता में राज्य-कार्य करें, यह बात उस समय न थी। यह तो बहुत पीछे के मध्यकाल या आधुनिक काल की भावना है।

फिर, प्राचीन काल के ढंग सरल थे। लूट-मार करनी हुई तो खुल्लमखुल्ला की जाती थी। संहार-कार्य भी प्रत्यक्ष रूप से होता था। कहीं-कहीं विजित देश के कुछ आदमी दास या गुलाम भी बनाये जाते थे। कहीं-कहीं देव-मंदिर तोड़े जाने के भी उदाहरण मिलते हैं। ये कार्य प्रकट रूप से होने के कारण, अनेक दशाओं में इनका विरोध भी डट कर होता था। अब बात कुछ और है। कूट नीति या चालबाजी का प्रयोग अधिक है। अब लोगों को गुलाम बनाने या कत्ल करने की नीति कम बर्ती जाती है, अब तो समस्त विजित जनता को अपने अधीन करने की चेष्टा की जाती है। उनकी रक्षा का भार विजेता अपनी जाति या देश के आदमियों की सेना को सौंपता है, या ऐसी सेना को सौंपता है जिसका सूत्र-संचालन विजेता के आदमी करते हैं। विजेता वहाँ के आदमियों की शिक्षा, साहित्य और व्यापारादि सभी विषयों पर अपना प्रभुत्व जमा लेता है, और उन्हें मानसिक, नैतिक तथा आर्थिक सभी प्रकार

से परावलम्बी बना डालता है। मज़ा यह, कि प्रत्येक कार्य में यह सूचित किया जाता है कि यह विजित देश के हित और उन्नति के लिए है। विजेता कहता है, 'परमात्मा ने हमें कैसा विकट काम सौंपा है। हम इसे भरसक पूरा कर रहे हैं, और, इस भार से जल्दी ही मुक्त होना चाहते हैं।' निस्सन्देह बलवान सदैव दूसरों की कृतज्ञता के अधिकारी होते हैं।

प्राचीन सम्राट्, साम्राज्य के अधीन भागों की भीतरी व्यवस्था में विशेष हस्तक्षेप नहीं करते थे, अतः उन्हें उनके शासन के लिए सेना की बहुत आवश्यकता नहीं होती थी। अब तो अधीन भागों की राजनीति पर पूरा नियन्त्रण रखा जाता है। इसलिए बहुत सेना रखनी पड़ती है। यदि सेना न रहे तो कितने ही अधीन भाग स्वतंत्र होने, कर न देने, और साम्राज्य का बन्धन तोड़ने के लिए प्रयत्न-शील हो जायँ। हाँ, साम्राज्यों के स्वाधीन अंगों में से अब भी अनेक ऐसे होते हैं, जो बिना किसी दबाव के, स्वेच्छा से साम्राज्य के अन्दर बने रहना, और उससे विविध प्रकार का सम्बन्ध बनाये रखना चाहते हैं।

आज कल संसार में प्रायः एक ही समय में कई-कई साम्राज्यों का दौर-दौरा रहता है। इनकी समय-समय पर संधियाँ होती हैं, और टूटती हैं। प्रायः इनके गुट बनजाते हैं, कुछ साम्राज्य एक ओर हो जाते हैं, कुछ दूसरी ओर। इन साम्राज्यो को एक-दूसरे साम्राज्य से आक्रमण का भय लगा रहता है। फल-स्वरूप ये शान्ति और

निशस्त्रीकरण की बात करते हुए भी विकराल सेनाएँ रखते हैं, और उन्हें बढ़ाते रहते हैं। प्रत्येक साम्राज्य संहार-कार्य के लिए विज्ञान का अधिकतम उपयोग (या दुरुपयोग !) करता है, सर्वत्र भय और आशंका का राज्य रहता है। यह है, साम्राज्यों की वृद्धि और आधुनिकता का परिणाम !

अस्तु, साम्राज्यों के अनेक भेद किये जा सकते हैं। पर साम्राज्य का रूप कुछ भी हो, उसका प्रभाव न्यूनाधिक वही होता है। कोई धर्म के नाम से, कोई सभ्यता-गुरु बन कर, कोई सैनिक शक्ति से, और कोई व्यापार-चक्र चलाकर करता वही है, जो 'शोषण' कहलाता है।

तीसरा अध्याय

काल चक्र

कालाय तस्मै नमः

काल की आज्ञा में कैसे-कैसे ज़ोरावर चले,
क्या मजाल उस हुक्म की कोई अदूली कर सके!
राव चले, राना चले, धनवान और निर्धन चले,
कौन स्थिर रह सके, जब काल का चक्कर चले॥

जो यहा आया है उसको चलना होगा एक दिन।
खिलखिलालो, चहचहालो, ऐ गुलो! ऐ बुलबुलो!
दम में हँसना, पल में रोना, तुमको होगा एक दिन॥

मेहनती कैसे हुए कठोर जीवन में रुचि रखने वाली जातियों के हाथ राज्यों और साम्राज्यों की स्थापना, और उनके आलसी, विलासी तथा नाज़ुक वंशजों के हाथ उनका नाश—सभी देशों के इतिहास का इतना ही निचौड है!

—किशोरलाल मशरूवाला

ओफ! इस संसार से कैसे बड़े-बड़े साम्राज्यों का लोप हो गया। सृष्टि का इतिहास एक विचित्र रङ्ग-मंच की कथा है। नाटक में नये-नये पात्र आते हैं, और कुछ देर दर्शकों का मन मुग्ध करके चले जाते हैं।

जन्म, यौवन, बुढ़ापा और मृत्यु—संसार में असंख्य प्राणी नित्य पैदा होते हैं, सब अपनी-अपनी लीला करते हैं। चार दिन की चादनी दिखाकर वे सदा लिए अंधकार में विलीन हो जाते हैं। जन्म होता है, जवानी आती है, बुढ़ापा आता है, अन्त में सब प्राणियों की गति मृत्यु में होती है। प्रत्येक व्यक्ति समय-समय पर थोड़ा-बहुत रोगी होता है। कुछ आदमी तो बहुत-से रोगों से भी सहज ही पार हो जाते हैं। पर किसी को कोई साधारण रोग ही बहुत बुरी तरह घेर लेता है, यहा तक कि यदि वह रोग उसकी मृत्यु का कारण नहीं होता तो उसे बहुत समय के लिए निस्तेज और कमज़ोर कर डालता है। प्रायः यह माना जाता है कि यदि कोई व्यक्ति स्वस्थ माता पिता की सन्तान है, और स्वयं भी स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों का यथेष्ट पालन करता है तो वह सौ वर्ष अथवा इससे अधिक समय तक जीवित रह सकता है। इसके विपरीत दशा में, उसकी आयु बहुत कम होती है, यहा तक कि प्रथम दिन ही मृत्यु हो जाती है। यही क्यों; कितने ही प्राणी गर्भावस्था को ही कठिनता से पार कर पाते हैं। कभी-कभी किसी आकस्मिक दुर्घटना के कारण अकाल मृत्यु भी होती है, पर बहुत कम।

साम्राज्यों की भी मृत्यु अनिवार्य है—जो बातें व्यक्तियों के विषय में चरितार्थ होती हैं, वे संस्थाओं, राज्यों, तथा साम्राज्यों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती हैं। जो गुण दुर्गुण एक बूँद में हैं, वे ही व्यापक रूप से अथाह समुद्र में हैं। मिट्टी की एक डली

की जो प्रकृति है, वही बहुत-कुछ इस विराट् भू खंड की है। निदान, जन्म वाल्यावस्था, यौवन, वृद्धावस्था, रोग, शोक और अन्ततः मृत्यु जैसे व्यक्तियों में होती है, वैसे ही साम्राज्यों में होती है। बात ठीक ही है, जब कि साम्राज्य व्यक्तियों के ही विशाल समुदाय या संस्थाएँ हैं, तो उनमें व्यक्तियों के लक्षण मिलने ही चाहिएँ। निदान, मृत्यु अनिवार्य है, वह होकर रहेगी।

हम मृत्यु को भूले रहते हैं—आह! यह इतनी सीधी बात आदमियों की समझ में नहीं आती। साधारण लोगों की क्या कहें, साम्राज्य-सूत्रधारों को भी इसका ध्यान नहीं रहता, वे भी इसे भूल जाते हैं। यह कुछ स्वाभाविक भी है। हम नित्य व्यवहार में देखते हैं कि माता पिता अपनी सन्तान के जन्म की बड़ी खुशी मनाते हैं, अनेक उनकी वर्ष-गाठ का उत्सव मनाते हैं, परन्तु कभी उनकी मृत्यु की क्या, बीमारी या बुढ़ापे की भी बात नहीं सोचते। यही नहीं, यदि कोई दूसरा आदमी ऐसी बात उठाए तो वे बहुत बुरा मानते हैं। इसके अतिरिक्त, वड़े होने पर यौवन मद में, अनेक व्यक्ति अपनी मृत्यु की बात भूल जाते हैं। वे नित्य देखते हैं कि हमारे बड़े-बूढ़े मर-खप गये हैं। अनेक भाई-बन्धु प्रति दिन हमारी आंखों के सामने मरते हैं, और हम उनकी अंत्येष्ठिया क्रिया-कर्म में भाग लेते हैं, फिर भी हम ऐसे माया-जाल मे फँसे रहते हैं, स्वार्थ, व्यसन, धन बटोरने आदि में लगे रहते हैं, मानों हमारी कभी मृत्यु नहीं होगी, संसार में हम अमर होकर आये हैं। इस से बढ़ कर क्या आश्चर्य है!

कुछ ऐसी ही बात साम्राज्यों की है। उनकी बाल्यावस्था में उनके सूत्रधार उनकी खूब सार-संभाल रखते हैं, उनके नन्हें पौदे को अपने त्याग और बलिदान रूपी जल से सींचते रहते हैं, आंधी और वर्षा से उसकी यथा-शक्ति रक्षा करते हैं। पर विविध झंझटों और मुसीबतों को पार करके जब कोई साम्राज्य यौवनावस्था में पहुँच जाता है तो वह भौतिक सम्पदाओं के संग्रह में लग जाता है, न्याय-अन्याय का विचार छोड़ देता है। अहंकार, अत्याचार, लोभ और व्यसन उसके नित्य-कर्म बन जाते हैं। वह धर्म का आचरण छोड़ देता है। अपने धन वैभव के नशे में वह भूल जाता है इस बात को, कि उसे एक दिन मरना अवश्य है। यह मृत्यु जन्म से ही उसके साथ लगी हुई है। उसके पूर्ववर्ती अनेक सम्राज्यों का परलोकवास हो चुका, उनकी समाधियां और खंडहर शेष हैं, अथवा कुछ दशाओं में उनका भी लोप हो गया है। उसके सहयोगी उसके सामने मरते हैं, या मृत्यु-शय्या पर पड़े होते हैं। यह सब अनुभव करते हुए भी वह अपनी मृत्यु की बात गयी-आयी कर लेता है। परन्तु जिस प्रकार किसी शतुर्मुर्ग के अपनी गर्दन और आंखें रेत में छिपा लेने से वह शिकारी के तीर से नहीं बच सकता, इसी प्रकार कोई साम्राज्य अपने अन्तकाल की बात को भूल कर मृत्यु के आक्रमण से सुरक्षित नहीं रह सकता। वह अपनी मौत को चाहे जितना भूल जाय, मृत्यु तो उसको भूलने वाली नहीं। वह एक-न-एक दिन मरेगा, अवश्य मरेगा। इसमें कोई संशय नहीं; यह तो स्वयं-सिद्ध बात है, इसमें तर्क वितर्क की गुंजायश नहीं।

मृत्यु का ठीक समय निर्धारित करने में कठिनाइयाँ—क्या साम्राज्यों की मृत्यु की, कुछ पहले से सूचना मिल सकती है ? क्या उनके पतन की तिथि बतलाई जा सकती है ? साम्राज्य के भविष्य का अनुमान करने में एक कठिनाई है। प्रायः विविध प्रकार की, और बहुधा परस्पर विरोधी शक्तियों का विचार करना पड़ता है। एक प्रवृत्ति से मालूम होता है कि साम्राज्य दृढ़ होता जाता है, दूसरी से अनुमान होता है कि क्रमशः ह्रास हो रहा है। यह हिसाब लगाना सरल नहीं है, कि इनमें से कौन सी दूसरी से अधिक बलवान होगी और कितने दिन तक इनका मुक़ाबला होता रहेगा। फिर, इस बीच में सम्भव है कोई और नयी बात पैदा हो जाय, जिसका प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ता जाय। उदाहरण के लिए ब्रिटिश साम्राज्य की ही बात लीजिए। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में संयुक्त-राज्य-अमरीका से इङ्गलैंड ने, उसके कर लगाने की स्वतंत्रता के सम्बन्ध में, समझौता न किया ; परस्पर युद्ध ठन गया, जिसमें अन्ततः अमरीका विजयी होकर साम्राज्य से पृथक् हो गया। साम्राज्य को भारी धक्का लगा, बहुत क्षति हुई। यदि इंगलैंड वैसा ही हठी रहता तो उसकी नीति से अन्य उपनिवेश भी साम्राज्य से पृथक् होने लगते। परन्तु सौभाग्य से उसके सूत्रधारों ने अमरीका से शिक्षा ली, और अन्य उपनिवेशों के साथ उदारता का व्यवहार किया, उन्हें अपने शासन का अधिकार दे दिया। इससे साम्राज्य का ह्रास होते-होते बच गया। इसके अतिरिक्त, इङ्गलैंड की, अमरीका के पृथक् हो जाने से जो हानि

हुई, उससे अधिक लाभ उसे भारतवर्ष पर अधिकार प्राप्त करने से होने लग गया। इस प्रकार अमरीका की घटना को देख कर जो लोग साम्राज्य के ह्रास का हिसाब लगाते थे, वह ठीक नहीं बैठा।

एक बात और भी है। बहुधा साम्राज्यों की शान-शौकत धूम-धाम और सभ्यता की चकाचौंध से भविष्य-वक्ता की दृष्टि चकाचौंध हो जाती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि भविष्य-वक्ता का साम्राज्य के जीवन से, या मरण से व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्ध होता है। वह साम्राज्य-सूत्रधारों का कृपा-पात्र होने के कारण उनकी शुभ कामना में ही प्रसन्न होता है। अथवा, वह साम्राज्य की किसी दुखित और पीड़ित श्रेणी से सम्बन्धित होने के कारण हर दम उसके विनाश की कल्पना किया करता है। इस प्रकार साधारण मनुष्य स्वतन्त्रता-पूर्वक नहीं सोच पाते। प्रतिभाशाली व्यक्ति ही बाहरी प्रभाव से मुक्त रह सकते हैं। इन पर भी सर्व साधारण को विश्वास नहीं होता। फिर, अनेक राजनैतिक ज्योतिषी अप्रिय भविष्य कथन करने पर सत्ताधारियों के कोप-भाजन बनते हैं। इस प्रकार साम्राज्यों की मृत्यु की सूचना स्पष्ट रूप से मिलने में कई कठिनाइयाँ हैं।

अनुमान हो सकता है—यह होते हुए भी विविध महानुभाव समय-समय पर यथा-सम्भव इसका अनुमान करते हैं, और उसे निर्भीकता-पूर्वक स्पष्ट रूप से सूचित करने से नहीं चूकते। इनके कथन में कहां तक सच होता है, इसका विचार करने के लिए यह स्मरण रखना आवश्यक है कि साम्राज्यों के विषय में यह

नहीं कहा जा सकता कि अमुक दिन तो क्या, अमुक वर्ष में उनकी मृत्यु होगी। प्रायः होता यह है कि साम्राज्य रूपी विशाल भवन क्रमशः जीर्ण-शीर्ण होता है। उसका एक भाग अब गिरता है, तो दूसरा दस बीस या इससे भी अधिक वर्ष बाद गिरने के लक्षण दर्शाता है; सम्भव है, इस बीच में वह साम्राज्य किसी-किसी, भाग में कुछ वृद्धि या बल प्राप्त करता हुआ भी मालूम पड़े। इस प्रकार होते-होते साम्राज्य के पतन की क्रिया, आरम्भ होने के कभी कभी सौ पचास वर्ष तक चलती रह सकती है। तथापि रोग-मुक्त न होने की दशा में, उसका क्षय तो हो ही रहा है। ऐसी स्थिति मे उस भविष्य-वक्ता की बात मिथ्या नहीं कही जा सकती, जिसने साम्राज्य के क्षय की सूचना यथा-समय दे दी।

कुछ भविष्य-वाणियाँ; नेपोलियन का कथन—उदाहरण-स्वरूप हम गत डेढ़ सौ वर्ष के भीतर की की-हुई कुछ भविष्य-वाणियों की चर्चा करते हैं। कहा जाता है कि अन्यान्य व्यक्तियों में नेपोलियन ने तुर्क साम्राज्य का अन्त बहुत पहले देख लिया था। उसने 'डायरेक्टरी' को लिखा था कि—'इस साम्राज्य को बनाये रखने की चेष्टा करना व्यर्थ है। हम अपने समय में ही इस का पतन देखने में समर्थ होंगे।' समय ने उसकी सचाई प्रकट करदी। यही नहीं, नेपोलियन के विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि उसने कहा था कि 'योरप में सर्वत्र प्रजा तंत्रों की स्थापना होगी।' राजनैतिक पाठक जानते हैं कि उसका यह कथन किस प्रकार क्रमशः सत्य प्रमाणित

होता गया। यह और बात है कि अब कुछ समय से परिस्थिति बदली हुई है, कई राज्यों में डिक्टेटर या तानाशाहों की चल रही है।

योरप के सम्बन्ध में पियरसन का मत—मि० पियरसन ने एक पीढ़ी पहले कहा था कि "वह दिन जल्द आने वाला है जब कि योरपियन देखेंगे कि संसार की कमज़ोर जातिया उनके विरुद्ध कमर कसे हुये हैं। पीली (चीनी और जापानी) और काली जातिया उनके अत्याचार सहने या उनकी अधीनता में रहने को तैयार नहीं है। योरपियनों के कला-कौशल को लात मार कर वे अपने देशों का व्यापार अपने हाथों में ले रही हैं। वे सर्वथा स्वतंत्र, अथवा स्वतंत्र के समान हो जायँगी। योरप की जातिया आपस में लड़ेंगी, और झगड़ा तय न होगा। चीन, हिन्दुस्थान, अमरीका के निवासी, अफ्रिका के कांगों, जेम्बज़ी आदि देशों और जातियों के प्रतिनिधि स्वतंत्र रूप में मित्रों की भाति योरपियन संग्राम-सम्मेलन में सम्मिलित होकर बीच-बिचाव करेंगे। हमारे विज्ञान और सभ्यता की, हमारी सरकार के साधनों की, बढ़ी-चढ़ी कला हमें वह दिन बड़ी शीघ्रता से दिखलाने के लिए घसीट रही है, जिस दिन नीच जातिया संसार पर शासन करती हुई, दिखलायी पड़ेंगी।"

इस कथन में योरप वालों को 'सभ्य' और दूसरों को 'नीच' समझा गया है; इसे छोड़ कर मुख्य बात का विचार करें। जैसी कि आशा थी, इस भविष्य-वाणी का बड़ा उपहास किया गया, परन्तु सन् १९१४—१९ ई० में होने वाले योरपीय महायुद्ध ने बतला दिया

कि उपहास करने वाले कितने अल्पज्ञ थे, और उनकी तुलना में मि० ग्रियर्सन कितना दूरदर्शी और समय की परख करने वाला था। जैसा कि इस भविष्य-वक्ता ने कहा था, वह महायुद्ध योरपीय जातियों के लिए ह्रासकारक, और उनके अधीन एशिया अफ्रिका की जातियों के लिए जागृतिकारक हुआ है। यही नहीं, योरपीय जातियों की प्रतिद्वन्दिता अभी तक नहीं मिटी, वर्तमान योरपीय महासमर और भी अधिक भंयकर है, और आधुनिक विज्ञान और सभ्यता का अभिमान करने वाले अपने इन साधनों से अत्यन्त संकट-ग्रस्त हैं। आधुनिक स्थिति प्रत्येक मानव हृदय के लिए चिन्ता का विषय है।

"हम जानते हुए मृत्यु को प्राप्त होंगे"—आसवल्ड स्पेंगलर नामक जर्मन विद्वान ने भी भीषण भविष्य की कल्पना की है। उसका कथन है—"पश्चिम का पतन निकट आ रहा है। पश्चिमी योरप अपने शिखर पर पहुँच चुका है, और अब वह अधोमुख होगा। हमारे आध्यात्मिक साधनों का अन्त हो गया। संसार में मिथ्या भ्रम फैल गया है, यह अपने धैर्य और विश्वास को खो चुका है। इसकी उत्पादक शक्ति जाती रही है; हम अमिट भाग्य से जकड़े हुए हैं।" इस लेखक की सूचना है कि 'जब रोम यूनान आदि की प्राचीन सभ्यताएँ नष्ट हुईं, तो उन्हें इस बात का पहले से कुछ ज्ञान नहीं था। परन्तु हम अपना इतिहास जानते हैं। हम जानते हुए मृत्यु को प्राप्त होंगे। अपने अँग-विच्छेद की एक-एक मंजिल तय होते समय, हम

अनुभवी चिकित्सक की भाति उसे देख सकेंगे।" इस सज्जन की इस स्पष्टोक्ति पर अप्रसन्नता और क्रोध प्रकट करने वाले तो बहुतेरे मिल सकते हैं, परन्तु कहां हैं वे सूत्रधार जो इस का ध्यान रखते हुए, समाजों और साम्राज्यों के यथेष्ट पथ-प्रदर्शक बनें।

प्रोफेसर सीले का मत—पचास वर्ष हो गये प्रोफेसर सीले ने इगलैंड और भारत के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में अपना मत प्रकट कर दिया था। उन्होंने लिखा था :—

"जिस प्रकार का आन्दोलन इटली ने आस्ट्रिया के विरुद्ध किया था, उसी प्रकार का, एक राष्ट्रीयता का आन्दोलन यदि हिन्दुस्थान में आरम्भ हो तो हम उसे उस अंश में भी न दबा सकेंगे, जिस अंश में आस्ट्रिया ने इटली में दबाया था, जिसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि हमारा साम्राज्य नष्ट हो जायगा।...... हम भारत में देशी सेना खड़ी कर सके हैं, इसका कारण यह था कि वहा राष्ट्रीयता का भाव जागरित नहीं हुआ था। पर यदि हिन्दुस्थान में राष्ट्रीयता का भाव निर्बल रूप से भी जाग्रत हो उठे—उनके हृदयों में यह भाव न भी उठे कि हिन्दुस्थान से अँगरेज निकाल दिये जायँ, पर इतना हो जाय कि अँगरेजों को शासन चलाने में सहयोग देना वे लज्जा की बात समझने लगें तो प्रायः उसी दिन से हमारे भारतीय साम्राज्य का अस्तित्व नष्ट हो जायगा।......बिना सोचे-विचारे हम हिन्दुस्थान को एक विजित देश समझते हैं। पर यदि हिन्दुस्थान सचमुच ही

अपने को विजित देश मानने लगे तो हमें मालूम हो जाय कि इसे अधीन रखना कैसा असम्भव है।"※

भारतीय पाठक अपने देश की उस राष्ट्रीय प्रगति को भली भांति जानते हैं, जो यहां गत वर्षों में हुई है, और जिसके विषय में प्रोफेसर सिले ने आशंका की थी। वे भारतवर्ष और इंगलैंड के भावी सम्बन्ध का, और उसके परिणाम-स्वरूप ब्रिटिश साम्राज्य के साम्राज्यपन में होने वाले अन्तर का, सहज ही अनुमान कर सकते हैं। वास्तव में यह साम्राज्य, अपने स्वाधीन उपनिवेशों के कारण, साम्राज्य नहीं है। आयरिश-फ्री-स्टेट तो स्वाधीन राज्य ही है, और, राजकीय उपनिवेशों ('क्राउन कालोनीज़') का कुछ महत्व नहीं है। इस साम्राज्य को साम्राज्य बनाने वाला देश एकमात्र भारतवर्ष ही है।

चेतावनी की उपेक्षा—प्रायः किसी साम्राज्य का अन्त होने से पूर्व ही विचारशीलों को यह ज्ञात होने लग जाता है कि अब अन्त निकट है। किन्तु साम्राज्य-सूत्रधार उस ओर यथेष्ट ध्यान नहीं देते, वे इस विषय की चेतावनी की उपेक्षा करते हैं। वे अपने रंग-ढंग में कुछ सुधार नहीं करते, उनका रवैया पहले की तरह चलता रहता है। इसी सन् १९४० में फ्रांस का पतन हुआ है। इसके विषय में वहां के सुप्रसिद्ध स्वतंत्र विचारक रोम्यां रोला को पहले से (पिछले योरपीय महायुद्ध के बाद) ही आशंका थी। उन्होंने लिखा है, "मैंने फ्रांस द्वारा रूहर प्रदेश हड़प लिये जाने की निन्दा की, फ्रांस तथा जर्मनी

※Expansion of England.

मे मधुर सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की, और इस बात की विशेष कोशिश की कि विजेता राज्यों ने जो अत्याचार जर्मनी के साथ किये, उसकी क्षति-पूर्ति वे अपने सद्व्यवहार से करें। उदारता, मनुष्यता, तथा राजनैतिक बुद्धिमत्ता का तकाजा यही है। अगर इन दिनों (लड़ाई के खतम होने पर) फ्रास, जिसके पक्ष में तमाम दुनियाँ की शक्ति है, ऐसा नहीं करेगा तो वह जर्मनी को भविष्य में क्रूर हिंसा की शरण लेने के लिए बाध्य करेगा, और इसकी सारी जवाबदेही फ्रास पर होगी।"

फ्रास ने अपने इस परम हितैषी नागरिक की बात न सुनी, या सुनी-अनसुनी कर दी। और, एक फ्रास की ही बात नहीं, उसकी जगह कोई दूसरा विजयी राज्य होता तो वह भी साधारणतया यही करता, जो फ्रास ने किया। विजेताओं और शासकों का स्वभाव ही ऐसा होता है। उनमें अधिकार और विजय का उन्माद रहता है। उनमें दूर की बात सोचने की क्षमता नहीं होती, त्याग की भावना नहीं होती। अस्तु, फ्रास की इस उपेक्षा का जो परिणाम होना था, वह होकर रहा। वार्साई की जो संधि उसकी विजय की घोषणा कर रही थी, वह बीस वर्ष में ही उसकी पराजय का कारण हुई। संसार में ऐसी चेतावनी की उपेक्षा न-जाने कितनी बार हुई है; फिर उपेक्षा, और फिर उसका दुष्परिणाम; यह चक्र चला ही है।

विशेष वक्तव्य; मृत्यु या आत्म-हत्या?—प्रायः यह समझा जाता है कि कोई राज्य या साम्राज्य इसलिए विध्वंस होता है

कि दूसरा उससे अधिक बलवान् उस पर आक्रमण कर देता है जिससे वह परास्त होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। यद्यपि बहुधा इतिहासकारों मे, इसी पक्ष के समर्थक होते हैं, हमारा मत इससे अधिकांश में भिन्न है।

हमारा वक्तव्य है कि प्रायः साम्राज्यों का अन्त उनके अपने ही विकारों के कारण होता है। विलासिता, ,चरित्र-हीनता, अज्ञान, पारस्परिक द्वेष आदि रोगों या दुर्गुणों से दूसरों को उन पर आक्रमण करने की प्रेरणा या साहस होता है। इस प्रकार आक्रमण-कारी, बहुधा रोग-शय्या ही नहीं मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए अधमरे साम्राज्य पर धावा करता है; वह उसकी मौत का नाम-मात्र का कारण होता है। फ्रांस के विषय में ऊपर कहा गया है। उसके पतन के कारण उसके ही प्रधान मंत्री मार्शलपेतें के शब्दों में सुनिए—"सन् १९१८ में हमारे राष्ट्र की जीत होने के बाद, हमारे लोगों में त्याग की अपेक्षा ऐशो आराम की वृत्ति का अधिक आदर होने लगा। लोगों ने त्याग न किया; लेकिन वासनाएँ बढ़ायीं; मेहनत को टालने की प्रवृत्ति रही। नतीजा यह हुआ कि हमारे देश पर दुर्भाग्य का चक्र घूम गया।" इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रायः साम्राज्य अपनी मौत को, अनजान में ही सही, स्वयं आमंत्रित करने वाला होता है। तो क्या साम्राज्य आत्म-हत्या, का दोषी होता है ? एक सीमा तक अवश्य ही ! अगले पृष्ठों में इसका विचार करें।

चौथा अध्याय

राम-साम्राज्य

माना कि अब हुक्मरानी नहीं है, अयोध्या की वह राजधानी नहीं है।
रघुवंश की वो निशानी नहीं है, पर वह क्या चीज है, जो कि फानी नहीं है॥

साम्राज्य की कल्पना बहुत पुरानी अर्थात् ब्राह्मण-कालीन है, और, उसका सम्बन्ध राजसूय यज्ञ से है। उसमें बादशाहत का मुल्क किसी रीति से बढ़ाया नहीं जाता था, और न सम्राट के अधिकार एकतन्त्री होते थे।

—महाभारत मीमांसा

चक्रवर्तित्व से साम्राज्यवाद की हानिया उत्पन्न न होती थीं, किन्तु लाभ स्पष्ट था।

—द्वारिकाप्रसाद मिश्र

अब हम कुछ साम्राज्यों का परिचय देते हुए इस बात का विचार करेंगे कि किन-किन कारणों से उन का ह्रास या पतन हुआ। पहले भारतीय साम्राज्यों का विचार करना सुविधाजनक होगा। रामायण की घटनाओं को बहुत-से व्यक्ति 'ऐतिहासिक' नहीं मानते। किन्तु हम उसे भी विचारणीय समझ कर, पहले श्री रामचन्द्र जी के ही साम्राज्य का विषय लेते हैं।

इस साम्राज्य के बल का रहस्य शासकों की 'लोक-आराधना' की

भावना है। शासक, राज्य को अपने लोभ, ऐश्वर्य, या भोगविलास आदि की सामग्री के रूप में नहीं देखता था। वह उसे एक उत्तरदायित्व का कार्य मानता था। राजा या महाराजा के लिए राज्य-संचालन एक भार उठाने के समान था, जिसे वह कर्तव्य-बुद्धि या धार्मिक भावना के कारण करता था। वह राज-सभा के सदस्यों के परामर्श से तथा सुयोग्य कर्मचारियों के सहयोग से शासन करता था। जब राजा राज करते-करते थक जाता था, अपनी अवस्था आदि के कारण अपने आप को इस भार-वहन में असमर्थ समझने लगता था, तो वह स्वयं, बिना किसी दबाव के, अपने ज्येष्ठ पुत्र को इसकी बागडोर सौंप देता था। उत्तराधिकार का नियम राजनीति तथा समाज नीति में स्पष्ट था। राजगद्दी कोई सुख की सेज न होकर रण-शय्या थी, राज-मुकुट आभूषण न होकर, कांटों का ताज था; शासन-अधिकार उत्तरदायित्व का चिन्ह था।

तनिक विचार करने से यह बात ध्यान में आजाती है कि वह समय दो जातियों के, दो संस्कृतियों के, संघर्ष का समय था। आर्यों और अनार्यों की मुठभेड़ थी। रामचन्द्र अथवा सूर्यवंशी राजा आर्यों की शक्ति के प्रतिनिधि थे। दूसरी ओर थे राक्षस, वानर, ऋक्ष आदि। सर्व साधारण भारतीयों में, विशेषतया धार्मिक साहित्य के प्रभाव से, यह धारणा हो गयी है कि यह दूसरा पक्ष मनुष्यों का न था; राक्षस भयानक आकृति वाले, विशाल शरीर, अग्नि जैसी आंखों, विकराल डाढ़ों, और लम्बी जीभ वाले मनुष्य-भक्षी जीव विशेष थे; और,

इसी प्रकार वानर, ऋक्ष आदि बन्दर और रीछ आदि पशु थे। यह धारणा नितान्त भ्रम-पूर्ण है। बाल्मीकी रामायण आदि ग्रन्थों से ही यह भली भांति प्रमाणित है कि यद्यपि उनका भेष, भाषा और सामाजिक रीति व्यवहार आर्यों से भिन्न था, तथापि वे सब थे मनुष्यों के ही वर्ग विशेष। उनके अपने राजा और राज्य थे, और वे कला-कौशल, विद्या, साहित्य, राजनीति, युद्धनीति आदि में बड़े कुशल थे। राक्षसों ने तो भौतिक उन्नति में बहुत ही प्रगति की थी। अस्तु, आर्यों और अनार्यों के संघर्ष की कथा बहुत बड़ी है, पर हमारे लिए उसका उतना ही अंश विचारणीय है, जितना रामचन्द्र जी के साम्राज्य से सम्बन्धित है।

श्री रामचन्द्र जी अयोध्या के सूर्यवंशी महाराजा दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र थे। दशरथ जी ने राजसभा के सदस्यों के परामर्श तथा सुयोग्य कर्मचारियों के सहयोग से उत्तम शासन किया। प्रजा इन्हें बहुत प्यार करती थी। सब लोग सुखी थे। धन धान्य की कमी न थी। शिक्षा, सदाचार आदि की पूरी व्यवस्था थी। दशरथ जी की तीन रानियां थीं, उनसे चार पुत्र हुए—कौशल्या से राम, सुमित्रा से लक्ष्मण और शत्रुघ्न, तथा कैकयी से भरत। जब दशरथ जी वृद्ध हो गये तो उन्होंने राज-काज से अवकाश लेना चाहा। मन्त्रियों तथा प्रजा के मुखियाओं की सहमति से रामचन्द्र जी के राज्याभिषेक की तैयारी होने लगी। इस अवसर पर कैकयी ने दशरथ से दो वर मांग लिये, जिनसे रामचन्द्र जी को चौदह वर्ष का बनवास और भरत को राजगद्दी मिले। कैकयी

के सिवाय, और सब के विरोध करने पर भी रामचन्द्र जी ने वन में जाना स्वीकार किया।

इसमें राम का त्याग तो प्रत्यक्ष दीख जाता है पर उनकी कुशाग्र राजनीति-बुद्धि सहज ही ज्ञात नहीं होती। यदि राम राज्य के लोभ में फँस जाते तो राज-वंश में गृह-कलह की बहुत-कुछ सम्भावना थी। जो भरत इनके त्याग को देख कर तथा इनको वन में मिलने वाले कष्टों का अनुमान करके इनके और भी भक्त हो गये, वह जब इन्हें एक प्रतिद्वन्दी के रूप में पाते, तो उनके मन में इनके प्रति इतना अनुराग रखते, इसमें सन्देह ही है। फिर कैकयी, तथा भरत के ननसाल वाले इन्हें कब चैन लेने देते। इस प्रश्न को लेकर अयोध्या और केकय प्रदेश (काबुल) में युद्ध छिड़ जाने की आशंका हो सकती थी। रामचन्द्र की दूरदर्शिता से यह सब कांड होते-होते रह गया। अपने त्याग से उन्होंने अपने विपक्षियों को भी अपना अनन्य प्रशंसक और सहायक सेवक बना लिया। एक बात और भी थी। रामचन्द्र जी बाल्यावस्था में विश्वामित्र मुनि के आश्रम में रह कर उनके, तथा अन्य आर्य मुनियों के कष्टों की असलियत जान गये थे। उन्हे आर्य सभ्यता के उन केन्द्रों का भी ज्ञान था, जो महर्षि अगस्त ने विंध्या पार कर स्थापित किये थे। इसलिए वन में जाने पर रामचन्द्र जी को, अनार्यों को विध्वंस कर, आर्य साम्राज्य और आर्य सभ्यता का विस्तार करने का अवसर मिल सकता था। वे इसे कब छोड़ने वाले थे। अस्तु, वे सहर्ष वन को गये और उनके साथ गये

उनके भाई लक्ष्मण, और सहधर्मिणी सीता। भरत जी ने राजगद्दी स्वीकार न की, वे रामचन्द्र जी की अनुपस्थिति में उनके प्रतिनिधि की हैसियत से ही राज्य-कार्य करते रहे।

वन में रहते हुए रामचन्द्र जी ने दक्षिण के विविध भागों में भ्रमण किया। अनेक राक्षसों का वध किया और स्थान-स्थान पर आर्य संस्कृति का प्रचार किया। दंडकवन में लङ्का के राजा रावण की अधीनता में अनार्यों का एक प्रधान अड्डा था। यहाँ खर दूषण आदि अत्यन्त बलवान् सेनापति रहते थे। रामचन्द्र जी ने इस अड्डे को नष्ट कर दिया। खर दूषण मारे गये, शूर्पनखा (रावण की बहिन) के नाक कान काट लिये गये। जब रावण को इसकी सूचना मिली, तो उसने बदला लेने के लिए सीता का अपहरण किया और उसे लंका* में ले गया।

सीता की खोज करते हुए राम लक्ष्मण ऋष्यमूक पर्वत के पास वानर-राज सुग्रीव से मिले, जिसे उसके बड़े भाई राजा बाली ने किष्किधा से निकाल रखा था, उसकी इनसे संधि हो गयी। निश्चय हुआ कि राम लक्ष्मण तो बाली को परास्त करें, और सुग्रीव इन्हें सीता की खोज में, और रावण पर विजय प्राप्त करने में सहायता दे। तदनुसार रामचन्द्र जी ने बाली का वध किया इस के पश्चात् सुग्रीव किष्किधा का राजा बनाया गया; बालि का पुत्र अंगद उस समय कम

---

* रावण की लङ्का कहां थी, इस विषय में विद्वानों के अब कई मत हैं। साधारणतया आदमी वर्तमान 'सीलोन' को लङ्का मानते हैं।

उम्र का होने के कारण, राज्य-कार्य-संचालन में असमर्थ था, उसे युवराज बनाया गया। सुग्रीव, उसके कर्मचारियों और सेना ने राम लक्ष्मण की भरपूर सहायता की। सुग्रीव का मंत्री हनुमान तो इनका बड़ा भक्त ही हो गया। उसने समुद्र को तैर कर पार किया और युक्ति से लंका में प्रवेश कर सीता का पता लगाया, तथा वहा के विविध सैनिक भेदों और रहस्यों का परिचय प्राप्त किया। उसने देखा कि जनता धन-वैभव-सम्पन्न है। रावण एक कुशल शासक और नीतिज्ञ है। उसका मत्री-मण्डल भी नीति-निपुण है, हा, रावण उसके समस्त निर्णयों को मानने के लिए बाध्य नहीं है, वह बहुत कुछ स्वेच्छाचारी है। सीता अपहरण आदि में उसकी स्वेच्छाचारिता के कारण उसका भाई विभीषण उसके पक्ष को त्याग कर राम से आ मिला।*

लङ्का में राम और रावण का घोर युद्ध हुआ। उसमें अन्ततः रावण अपने भाई-बन्धुओं और सेना-नायकों सहित मारा गया। राम ने विजयी होकर लङ्का को कौशल राज्य में नहीं मिलाया, वरन् रावण के भाई विभीषण को ही वहा की राजगद्दी दे दी। इसमें राजनैतिक पाठक के लिए केवल राम की उदारता ही नहीं है, नीति भी है। पराये राज्य में अपने वंशज या रिश्तेदार को अधिकारी बनाने से, प्रायः वहां की प्रजा से झगड़ा मोल लेना होता है। राज-कार्य में कुशल श्री रामचन्द्र जी इससे बचे रहे। फिर, विभीषण इनका अपना ही तो आदमी था।

* राम-भक्तों ने विभीषण की बहुत प्रशसा की है; पर दूसरी ओर वह 'घर का भेदी' या 'देश-द्रोही' भी कहा जाता है। कहावत है, 'घर का भेदी लङ्का ढावे।'

वनवास की अवधि समाप्त होने तक, रामचन्द्र जी अनार्यों पर विजय प्राप्त करने, वहा अपना प्रभुत्व स्थापित करने तथा अपनी संस्कृति का प्रचार करने में सफल हो चुके थे। अब वे सीता, लक्ष्मण और हनुमान आदि सहित अयोध्या आये और लोक-सेवा तथा प्रजा-हित की दृष्टि से राज्य करने लगे।

राम ने अपने शासन में कई अश्वमेध आदि यज्ञ किये। इनके भाई, पुत्र आदि ने भी कई यज्ञ किये। प्रजा को सुखी, संतुष्ठ, निरोगी और सुशिक्षित करने के यथेष्ठ प्रयत्न किये गये जो पर्याप्त रूप से सफल भी हुए। कहीं चोरी, व्यभिचार, चिन्ता, या रोग आदि न था, कोई आर्थिक या अन्य प्रकार का कष्ट न था। यहा तक राम-राज्य का अर्थ ही अच्छा, आदर्श, प्रजा-हितकारी राज्य हो गया।

रामचन्द्र जी के साम्राज्य का विस्तार कितना था, वह कहा तक फैला हुआ था, यह एक विचारणीय विषय है। प्राप्त वृत्तान्तों के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि प्रायः समस्त भारतवर्ष उनके अधिपत्य में था। रामचन्द्र जी एक बनवासी के रूप में भी जहा कहीं गये, उनका आर्य पुरुषों में सर्वत्र आदर हुआ और उन्हें राजा के रूप में स्वीकार किया गया। दण्डकारण्य में, अगस्त ऋषि के आश्रम में जब राम ने यह शंका की, कि मेरा यहा स्वागत-सत्कार कैसे होना उचित है, तो ऋषि ने कहा कि राजा सब का रक्षक है और धर्माचरण कराने वाला है, अतः वह सब के लिए पूज्य और मान्य है। पश्चात् जब रामचन्द्र जी इससे भी आगे दक्षिण में किष्किधापुरी

में थे, और उन्होंने सुग्रीव से मित्रता की संधि की और वाली का वध किया तो वाली के यह कहने पर कि मैंने आपका क्या बिगाड़ा, मैं आपके राज्य या नगर में कुछ अनुचित कार्य करता तो आपका मुझे दंड देना उपयुक्त होता, राम जो उत्तर देते हैं वह भी विचारणीय है। राम कहते हैं कि "किष्किंधा प्रदेश, वन पर्वत सहित, ईक्ष्वाकू अथवा सूर्यवंश वालों का है। महाराज (सम्राट्) भरत का शासन है। हम उसके कर्मचारी या प्रतिनिधि हैं। अतः दुराचारियों और अधर्मियों को दंड देने का हमें अधिकार है।" इससे स्पष्ट है कि दक्षिण भारत में यहा तक तो अयोध्या के महाराज का आधिपत्य था ही।

पर, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इसका अर्थ तत्कालीन परिस्थिति और व्यवस्था के अनुसार ही लिया जाना चाहिए, आजकल के अनुसार नहीं। अर्थात् ईक्ष्वाकू अथवा रघुवंशी राजाओं को सर्वोच्च या सर्वश्रेष्ठ अवश्य माना जाता था पर अपने-अपने क्षेत्र में विविध राजा महाराजाओं को शासन-कार्य की पूर्ण स्वतंत्रता थी। यही नहीं, मालूम होता है कि उस समय देश में पहाड़ी भूमि के अतिरिक्त, स्थान-स्थान पर बड़े-बड़े विशाल वन थे, जो बाद में बहुत-कुछ काट दिये गये। इन पर्वतों और वनों में वानरों और राक्षसों आदि का स्वच्छन्द शासन था। ये किसी आर्य सम्राट् की प्रभुता नहीं मानते थे। वरन् समय-समय पर इनका उनसे संघर्ष होता रहता था। उदाहरणार्थ लंका और अयोध्या का वैर विरोध बहुत पुराना था। रामचन्द्र जी की चतुराई इस बात में है कि इन्होंने कुछ वानरों और

राक्षसों को अपनी ओर मिलाया और शेष को परास्त करने मे सफलता प्राप्त की।

रामचन्द्र जी लंका जीत कर अयोध्या में आ गये तब भी आवश्यकता या सुविधानुसार विजय कार्य होता रहा। मधुपुरी (मथुरा) में मधु का पुत्र लवणासुर राज करता था; जब रामचन्द्र जी को उसकी अनीति और अत्याचार मालूम हुए तो उन्होंने उसे विजय करने के लिए शत्रुघ्न को आदेश किया। शत्रुघ्न ने सेना लेजाकर उसे हराया और यमुना के तट पर एक सुन्दर नगर बसाया कालान्तर में शत्रुघ्न ने बहुत वर्षों तक यहाँ राज्य कर लेने पर, इसे अपने दोनों पुत्रों में विभक्त कर दिया। सुबाहु को मथुरा नगरी का, और शत्रुघाती को वैदिश नगर का राजा बनाया गया।

भरत के मामा युधाजित का सदेश पाकर, रामचन्द्र जी ने भरत को आज्ञा दी कि गन्धर्व देश विजय करके, अपने पुत्रों को वहा का शासक नियुक्त कर दो। इस पर भरत जी ने उसे, केकय नरेश युधाजित की सहायता से गन्धर्वों को हराया और वहा अपने पुत्रों के नाम पर दो नगर बसाये—तक्षशिला और पुष्कलावत। इनमें क्रमशः तक्ष और पुष्कल को राजा बनाया गया।

पश्चात्, लक्ष्मण के दो पुत्रों अंगद और चन्द्रकेतु को राज्य देने का विचार हुआ। इनके लिए रामचन्द्रजी ने कारुपथ (कामरुप) को अपने अधीन किया, इसमें अंगदीयापुरी अंगद को, और चन्द्रकान्त नाम की नगरी चन्द्रकेतु को दी। अपने जीवन के अन्तिम भाग में

रामचन्द्र जी ने दक्षिण कौशल में कुश को, और उत्तर कौशल में लव को, अभिषिक्त किया। कुश और लव श्री रामचन्द्र जी के पुत्र थे। इस प्रकार जब कि पहले ईक्ष्वाकू वंश का प्रत्यक्ष राज्य केवल अयोध्या में ही था, अब श्री रामचन्द्रजी की व्यवस्था से, यह बहुत बढ़ गया; दूर-दूर के प्रान्तों में इसी वश के राजाओं का शासन होने लगा।

अस्तु, अब इस साम्राज्य के, कालान्तर में होने वाले, विनाश के कारणों का विचार करें। प्रथम और मुख्य बात तो यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि तत्कालीन शासकों पर शास्त्रों, मंत्रियों, एवॅ लोक-सभा का नियॅत्रण रहता था तथापि ऐसे राज्यों में प्रधान शासक के गुण दोषों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। यह बात उस समय के साम्राज्यों (चक्रवर्ती राज्यों) के विषय में और भी अधिक चरितार्थ होती थी। उनका बल या निर्बलता सम्राट् (महाराजा) के व्यक्तित्व पर निर्भर रहती थी। पराक्रमी, गुणवान, आदर्श चरित्रवान सम्राट् की प्रभुता दूसरे नरेश सहज ही, सहर्ष ही नहीं, अभिमान-पूर्वक स्वीकार कर लेते थे। पर ये अपने शासन-प्रबन्ध आदि में सर्वथा स्वतंत्र रहते थे। सम्राट् को भेट या उपहार आदि देने, या उसके राज्याभिषेक, यज्ञ या उसके परिवार वालों के बिवाह-शादी आदि के विशेष और इने-गिने अवसरों पर उपस्थित हो जाने, के अतिरिक्त, इनका साम्राज्य से मानों कोई सम्बन्ध ही नहीं होता था। और, यह भी केवल उस समय तक, जब तक कि सम्राट् का व्यक्तित्व विशेष प्रभावशाली

हो। सम्राट् के बाद प्रायः उसका ज्येष्ठ पुत्र राज्याधिकारी होता था, और यह आवश्यक नहीं कि उसका व्यक्तित्व भी अपने पूर्वज के समान ही प्रभावशाली हो; बस, उसके कम गुणवान या अयोग्य होते ही साम्राज्य का ह्रास होजाना स्वाभाविक था।

ऊपर यह बताया जा चुका है कि श्री रामचन्द्र जी ने स्वयं ही अपना साम्राज्य अपने पुत्रों और भतीजों में बांट दिया। इससे साम्राज्य आठ अलग-अलग भागों में बंट गया; प्रत्येक भाग का शासक पृथक् पृथक् था। इस प्रकार आठ शासक हो गये। यह व्यवस्था इस दृष्टि से तो अवश्य अच्छी रही कि गृह-कलह न हो, भाइ-भाइयों का, राज्य के लिए परस्पर में झगड़ा न हो। परन्तु साम्राज्य की दृष्टि से सोचिये। इन आठ शासको में सब अपने-अपने राज्य में स्वतंत्र है, परन्तु इन में प्रधान शासक कौन है, और उसकी प्रभुता शेष दूसरे शासक मानें इसकी व्यवस्था कहां है? सम्भव है, इन आठों भाइयों ने बहुत सहयोग के भाव से राज्य-कार्य किया हो। परन्तु ऐसी व्यवस्था एक दो पीढ़ी चल जाय, यही गनीमत है। पीछे तो ऐसे साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े होजाना अनिवार्य ही है। ऐसे साम्राज्य में दृढ़ संगठन या अनुशासन होता ही नहीं, यह अंशतः लोगों की धार्मिक भावना पर, और अंशतः प्रधान शासक के व्यक्तित्व पर स्थिर रहता है। खंड-खंड होजाने पर इसका पतन स्वाभाविक है।

यथेष्ट सामग्री के अभाव में, इस साम्राज्य के पतन के अन्य कारण ज्ञात नहीं होते। यह कहा जा सकता है कि "बहु-विवाह-प्रथा भी

साम्राज्यों की निर्बलता का एक विशेष कारण थी, क्योंकि इस के फल-स्वरूप अन्तःपुर के कलह, और राज्यों के घरू युद्ध होना स्वाभाविक था। राज्य के सब उत्तराधिकारियों से रामचन्द्र जी के विनय या गुरुजन-आज्ञापालन, और भरत के त्याग की आशा नहीं की जा सकती। फिर, कुछ आदमी दूसरों को लड़ा-भिड़ा कर अपना स्वार्थ सिद्ध करने वाले होते ही हैं, उन्हें उपर्युक्त परिस्थिति में अपने लिए अच्छी सामग्री मिलजाती है।" हम इस कथन के अन्दर छिपी हुई सचाई को स्वीकार करते हैं, परन्तु साम्राज्य-विनाश के जो कारण पहले बताये गये हैं, उन्हें ही मुख्य मानते हैं।

पाठक यह भी कह सकते है कि "शूद्रों को तपस्या करने और शास्त्र पढ़ने का निषेध ऐसे लोक-प्रिय राज्य में कैसे चल सकता है, जहां एक निम्नश्रेणी के व्यक्ति (धोबी) द्वारा राजकुल पर (सीता जी की पवित्रता के सम्बन्ध में) किया हुआ आक्षेप उतना ही विचारणीय माना जाता है, जितना किसी प्रतिष्ठित और विवेकशील व्यक्ति का। राज्य एक ओर यह दर्शाता है कि सब लोगों के अधिकार समान हैं, दूसरी ओर वह समाज के एक खासे बड़े हिस्से को काम करने की स्वतंत्रता नहीं देता। क्या आश्चर्य, ऐसा साम्राज्य अत्यन्त प्रकाशमान होने पर भी, कुछ समय बाद अस्त होजाय।" इस के सम्बन्ध में हमारा मत यह है कि उस समय की संस्कृति के अनुसार शूद्रों के प्रति ऐसा व्यवहार करना कोई दोष नहीं माना जाता था, शूद्रों में इतनी जागृति, ज्ञान या चैतन्य नहीं हुआ था कि वे

संगठित होकर ऐसे साम्राज्य के प्रति विद्रोह करते। उन्हें तथा अन्य मनीषी सज्जनों को भी शास्त्र के विरुद्ध कुछ कहने-सुनने का विचार नहीं होता था। अतः ऐसी बात व्यवहार का साम्राज्य के अस्तित्व पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ा मालूम होता। हां, यह बात प्रजा की दृष्टि से कही गयी है। शासकों की दृष्टि से विचार करें तो कहना होगा कि उनमें वर्ण भेद का भाव आगया। ब्राह्मणों को ऊंचा और दूसरों को नीचा वर्ग समझा जाने लगा। मनुष्य-मनुष्य का यह भेद कुछ ही समय तक साम्राज्य को बचायेगा; किन्तु कालान्तर में यह उसकी नैतिक दुर्बलता का ही कारण होगा। निदान, यह साम्राज्य की दुर्बलता की सूचना अवश्य थी, जिसका पीछे जाकर बढना, और साम्राज्य के ह्रास में सहायक होना सर्वथा सम्भव है।

पाँचवाँ अध्याय

कृष्ण के समय का साम्राज्य

यह समय द्वापर और कलियुग का संधि-काल था। यज्ञ आदि पुराने कर्मकांड सम्राटों के वैभव बढ़ाने के साधन हो चुके थे। राजा और प्रजा सभी सम्पन्नावस्था में थे। धन-राशि ने अपने स्वभाव-सुलभ दुर्गुण—द्यूत-क्रीडा, मद्यपान, पर-स्त्री-अपहरण उत्पन्न किये, जो ईर्षा और युद्ध के जनक थे।

—युगलकिशोर चतुर्वेदी

महाभारत की लड़ाई क्या थी? आर्य जाति के बुरे कर्मों का दंड था, राजा और प्रजा के एकत्रित पाप मनुष्य रूप धारण करके कुरुक्षेत्र में इसलिए इकट्ठे हुए थे कि आर्यावर्त की विद्या, कला और कौशल में जो कुछ अच्छा हो, उसे मिट्टी में मिला दिया जाय।

—लाला लाजपत राय

इस अध्याय में हम उस साम्राज्य का विचार करेंगे, जिसका सविस्तर वर्णन महाभारत नामक महाकाव्य में किया गया है, और जिसका अन्त महाभारत के युद्ध में हुआ। राम-साम्राज्य और इस साम्राज्य के बीच में अनेक पीढ़िया बीत गयीं। इस समय देश में अनेक राजनीतिज्ञ प्रतापी शासक और धुरंधर विद्वान थे। तथापि इस समय को श्री कृष्ण जी का समय कहा जाना अनुचित न होगा। जैसा कि आगे बताया जायगा, ये महान लोक-नायक थे, राज-

पद धारण न करते हुए भी सम्राट-निर्माता थे। महाभारत के युद्ध में बड़े-बड़े महारथियों ने भाग लिया, पर उसके सूत्र-संचालक स्थान-स्थान पर कृष्ण जी ही दिखायी देते हैं; जिसे ये चाहते हैं, वही विजय प्राप्त करता है; जिसे इनकी कृपा-दृष्टि प्राप्त नहीं, वह कहीं का नहीं रहता।

पिछले अध्याय में हमने राम के समय की झलक देखी। उसमें और श्रीकृष्ण जी के समय में कितना अन्तर हो गया था! अब वर्ण-व्यवस्था दृढ़ हो चली। गुण कर्म का अभाव होने पर भी वर्ण जन्म से माना जाने लगा। ब्राह्मण अधिकतर यज्ञ आदि धार्मिक कृत्यों में व्यस्त रहने लगे। राज्य करना, क्षत्रियों का काम रह गया। उन पर ब्राह्मणों का नियंत्रण कम हो गया। इसलिए क्षत्रियों का प्रभुत्व बढ़ जाना स्वाभाविक था। नियम तो अब भी यही था कि राजा अपने मंत्री-मंडल तथा प्रजा की सम्मति से राज्य करे, पर अब राजाओं में स्वेच्छाचारिता का भाव बढ़ रहा था। उनके विरुद्ध कोई बोलता न था। प्रत्येक राजा के पास अपनी-अपनी सेना थी। युद्ध-कला में भी उन्नति हो गयी थी। राज्याधिकार वंश-परम्परा के अनुसार था; हां, राज्याभिषेक से पूर्व प्रजा की सम्मति ली जाती थी। राजाओं में परस्पर फूट थी। प्रत्येक राजा स्वतंत्र होने का इच्छुक था। उन्हें सम्राट् होने की भी धुन थी। सब अपने-अपने स्वार्थ की ओर अधिक ध्यान देते थे।

राजा जैसे बने, अपनी शक्ति बढ़ाने के कूट प्रयत्न करते थे। वे व्यक्तिगत ऐश्वर्य और सुख सम्पत्ति बढ़ाने में अपने कर्तव्य की इति-श्री समझते थे। यह बात महाभारत कालीन, विशेषतया कंस, जरा-संध, शिशुपाल और दुर्योधन आदि के सम्बन्ध में पूर्णतः चरितार्थ होती है। ये सब साम्राज्यवादी तथा एकतंत्र राज्य के समर्थक थे। इनके विपरीत, देश में प्रजातंत्र शासन-पद्धति के पोषक और उसे व्यवहार में लाने वालों के कई दल थे। इनके अग्रणियों में श्रीकृष्ण, सुभद्रबाहु आदि मुख्य थे। कहीं-कहीं कुछ नाग या तक्षक आदि नितान्त अरा-जकतावादी भी रहते थे; इनकी विशेष बल-वृद्धि, महाभारत युद्ध के बाद, हुई।

महाभारत कालीन स्थिति को यदि धार्मिक आवरण हटा कर, राजनैतिक दृष्टि से देखा जाय तो यहा उस समय साम्राज्यवादियों और प्रजातन्त्रवादियों का विकट संघर्ष था। श्रीकृष्णजी के व्यवहार से मालूम होता है कि उन्होंने अपनी कुशाग्र बुद्धि या कुशल नीति से अन्ततः यह निश्चय किया कि विविध अत्याचारी राजाओं का विनाश करके एकमात्र विशाल साम्राज्य स्थापित किया जाय, जिसमें नीति और न्याय पूर्वक शासन हो। प्रमुख अत्याचारी शासकों में कंस इनका मामा ही था। उसकी क्रूरता का इन्हें अपनी बाल्यावस्था से ही ज्ञान था। उसे इन्होंने स्वयं मारा। उसकी जगह उसके पिता उग्रसेन को गद्दी पर बैठाया गया, जिसे कंस ने गद्दी से उतार रखा था।

अब इस समय के मुख्य साम्राज्य की बात लीजिए। महाभारत की कथा सर्व-विदित है। संक्षेप में, चन्द्रवंशी राजा शान्तनु के तीन पुत्र थे; उनमें से भीष्म ने राज्य न लेने, तथा आजन्म ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा की; चित्रागद लड़ाई में मारा गया, तीसरा विचित्रवीर्य शान्तनु के बाद राजा हुआ। इसके दो पुत्र थे, उनमें से बड़ा धृतराष्ट्र अन्धा था, इसलिए विचित्रवीर्य के बाद राज्य-कार्य छोटा पुत्र पांडु करता था। राजधानी हस्तिनापुर थी। धृतराष्ट्र के सौ पुत्र थे, ये कौरव कहलाते थे। सबसे बड़े का नाम था दुर्योधन। पाडु के पाच पुत्र थे—युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव। इन्हें पाडव कहा जाता था। कौरवों और पाडवों में ईर्षा और द्वेष था। बड़े होने पर दुर्योधन अपने को एक-मात्र राज्याधिकारी मानता था, तो पाडव भी राजगद्दी के दावेदार बनते थे। धृतराष्ट्र ने पाडवों को खाडव वन में रहने का आदेश किया। वहा रहते हुये पाडवों ने क्रमशः इस वन की जगली जातियों को हरा कर, और जंगल को साफ करके नगर बसाये। दिल्ली के पास, इन्द्रप्रस्थ राजधानी बनायी गयी। यहां पर मय नामक एक शिल्पी ने अपनी अद्भुत कुशलता से एक महल बनाया, जिससे पांडवों के वैभव का ही नहीं, तत्कालीन सभ्यता और निर्माण-कला की उन्नति का भी अच्छा परिचय मिलता है।

जब पाडवों का राज्य बहुत उन्नत होगया तो युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का विचार होने लगा। युधिष्ठिर जी ने श्रीकृष्ण जी से पूछा कि

मैं इस यज्ञ को करने का अधिकारी हूँ या नहीं। कृष्ण जी ने उत्तर दिया कि "प्रचलित रीति के अनुसार मगध के राजा जरासंघ ने, सबसे बलवान होने के कारण, सम्राट् पदवी धारण कर रखी है, सब राजा उसका आतंक मानते हैं, और उसे कर आदि देते हैं। वह बहुत स्वेच्छाचारी और अत्याचारी है। उसने बहुत से राजा माहराजाओं को कैद कर रखा है। उसी के भय से हमें अपना प्रदेश (मथुरा) छोड़कर द्वारका जाना पड़ा। राजसूय यज्ञ वही कर सकता है, जो चक्रवर्ती हो, जिसका कोई प्रतिद्वन्दी न हो। आप इसके योग्य अवश्य हैं, पर पहले जरासंघ को पराजित करके, बन्दी राजाओ को मुक्त कीजिए। उसके ऐसे प्रतापी बने रहने की दशा में आप यह यज्ञ कैसे कर सकते हैं?" अस्तु बहुत विचार-विमर्श के बाद जरासंघ को परास्त करने का निश्चय हुआ। अर्जुन, भीम और कृष्ण जरासंघ के दरबार में गये, और उसको मल्ल-युद्ध करने के लिए सहमत कर लिया। उसने भीम से मुकाबिला किया, जिसमें वह मारा गया। इस पर सब बन्दी राजाओं को मुक्त किया गया, और जरासंघ का पुत्र सहदेव मगध की राजगद्दी पर बैठाया गया।

अब युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ की तैयारियां होने लगीं। इस अवसर पर चेदी (जबलपुर) के राजा शिशुपाल ने बहुत दुर्व्यवहार किया। आखिर उसे श्री कृष्ण जी ने मार डाला। उसके स्थान पर उसके पुत्र को राज तिलक दिया गया। इस प्रकार कंस जरासंघ और शिशुपाल तीनों अन्यायी और अत्याचारी साम्राज्यवादियों का अन्त

उनके ही दुर्गुणों द्वारा हो गया। तदनन्तर युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ निर्विघ्न रूप से हुआ। इससे पांडवों की कीर्ति सर्वत्र फैलगयी। दुर्योधन को यह अच्छा न लगा, उसने उन्हें जुए के लिए आमन्त्रित किया, उसमें पांडव सब राजपाट खो बैठे, यहां तक कि द्रौपदी को भी हार गये। इस पर धृतराष्ट्र के निर्णय के अनुसार पाडवों को बारह वर्ष का वनवास, और एक वर्ष का अज्ञातवास करना पड़ा। तेरह वर्ष बिता कर पाडवों ने फिर कौरवों से राज्य मांगा, परन्तु उन्हें कोरा जवाब मिला। इस पर परस्पर में युद्ध छिड़ने की बात होने लगी। आरम्भ में प्रत्येक पक्ष ने दूसरे के पास दूत भेज कर संधि करनी चाही। पांडवों की ओर से स्वयं कृष्ण जी दूत बन कर कौरवों के यहां गये और उन्हें युद्ध की हानि समझाते हुए कहा कि वे पांडवों को पांच गांव दे दें, और उनसे संधि कर लें। परन्तु दुर्योधन किसी प्रकार न माना। अन्त में, कृष्ण जी का दौत्य-कार्य सफल न होने पर, दोनों पक्ष में युद्धहोना अनिवार्य हो गया।

उस समय प्रत्येक राजा सम्राट् के प्रति वफादार रहना, उसकी जन धन से, तथा स्वयं जी-जान से सहायता करना अपना कर्तव्य समझता था; और, कानूनी बन्धन या अन्य दवाव न होते हुए भी उस का भली भांति पालन करता था। परन्तु जब सम्राट् नीति-भ्रष्ट हो, उसकी राज-लिप्सा चरम सीमा को पहुंच जाय, और उसके परिवार में गृह-कलह की अग्नि प्रज्वलित हो तो निष्ठावान राजा क्या करें, सिवाय इसके कि दो पक्षों में एक-न-एक की तरफ से वे युद्ध में

भाग ले। यह उन्होंने किया। इसका परिणाम यह हुआ कि गृह-कलह महाभारत में परिणत हो गया।

युद्ध की तैयारी हो रही थी। भावी हत्याकांड, और प्रिय जनों के वियोग की कल्पना कर अर्जुन को वैराग्य हो गया। वह किंकर्तव्य-विमूढ़ हो सोचने लगा कि मैं लड़ूँ या न लड़ूँ। उसने हथियार डाल दिये। इसपर श्रीकृष्ण जी ने उसे निष्काम कर्म की शिक्षा दी,* फिर तो अर्जुन ने वीरता-पूर्वक युद्ध में भाग लिया।

प्रलय का दृश्य उपस्थित करने वाला घोर संहारकारी युद्ध हुआ। इसे सर्वसाधारण हिन्दू जनता 'धर्म-युद्ध' के नाम से सम्बोधित करती है। निस्संदेह उसमें कुछ बातें प्रशंसनीय हैं, यथा रात्रि में युद्ध बन्द रहना, अपने विपक्षियों के भी कुशल-क्षेम का समाचार लेना तथा उनकी सेवा सुश्रुषा करना, और निरस्त्र व्यक्ति से न लड़ना आदि। परन्तु युद्ध आखिर युद्ध ही है। हमें इसमें आक्षेप-योग्य बातों का अभाव नहीं मिलता। कौरवों का अभिमन्यु-वध तो प्रसिद्ध ही है, जिसमें कई महारथियों ने मिल कर एक युवक राजकुमार का नीति-विरुद्ध घात किया; पर पाण्डवों की ओर से भी भीष्म, द्रोण, तथा कर्ण को परास्त और वध करने में जो नीति काम में लायी गयी, वह 'धर्म-युद्ध' के योग्य कैसे है?

* इस उपदेश को पुस्तक संसार के सर्व-श्रेष्ठ साहित्य में स्थान पाने वाली श्रीमद्भगवद्गीता है जिसे साधारण बोल-चाल में गीता कहते हैं। यह महाभारत महाकाव्य का एक अंश है।

इस 'धर्म-युद्ध' का क्या परिणाम हुआ? दोनों पक्ष की सेना तत्कालीन गणना के अनुसार अठारह अक्षौहिणी* थी; अर्थात् कुल मिला कर लगभग साठ लाख आदमी रणक्षेत्र में आये थे। युद्ध के बाद इनमें से पाँच पांडव और अश्वत्थामा, कृपाचार्य, कृतवर्मा आदि केवल दस आदमी कुरुक्षेत्र के विशाल स्मशान को देखने वाले रह गये। और रह गया, अनेक मा बहिनों का अपने पुत्रों और भाइयों के विछोह में होने वाला करुण क्रन्दन, तथा असंख्य विधवाओं का शोक-विलाप, जो वज्र-हृदय कृष्ण जैसे गम्भीर व्यक्ति को भी रुला देने वाला था। जनता की सुख शान्ति विलुप्त हो गयी। ज्ञानवानों और कर्मवीरों का दिवाला निकल गया। कायरों और दुष्टों का बाहुल्य हो गया।

तत्कालीन बलवती शक्तियों में से कौरव पांडवों का महाभारत-युद्ध में मानों अन्त ही हो गया। कहा जाता है कि युद्ध के बाद पांडव विजयी होने पर भी शोक-निमग्न होने के कारण, हिमालय में जाकर परलोक सिधारे। यह भी सम्भव है कि इस समय महाभारत-युद्ध के परिणाम-स्वरूप जो, सामाजिक और धार्मिक के अतिरिक्त, राजनैतिक क्रान्ति हुई, उससे भी पांडवों को हस्तिनापुर छोड़ जाना ही उचित प्रतीत हुआ। दूसरी प्रबल शक्ति यादवों की थी। ये विलासिता और

* ज्ञात होता है कि एक अक्षौहिणी में २१,८७० रथ, २१८७० हाथी, १,०९,३५० पैदल तथा ६५,६१० घोड़े हुआ करते थे। रथों में सारथी के अतिरिक्त, दो योद्धा, और हाथी पर महावत के अतिरिक्त तीन सैनिक और बैठते थे।

मद्यपान में निमग्न थे। गृह-कलह ने इन्हें भी कहीं का न छोड़ा। राजनीति-धुरन्धर कृष्ण जी के परलोकवास के बाद चारों ओर अराजकता छा गयी। पाडवों को हस्तिनापुर और यादवों को द्वारिका छोड़नी पड़ा; ये क्रमशः अफगानिस्तान, ईरान, अरब, तुर्किस्तान और मंगोलिया आदि में फैल गये।

अब हम तनिक विचार करें कि इस महान चन्द्रवंशी साम्राज्य का अन्त क्यों हुआ, वह कहा तक स्वयंही उसके लिए उत्तरदायी है? प्रथम् तो यह स्मरण रखने की बात है ऐसे साम्राज्यों का मुख्य आधार प्रधान शासक होते हैं, परन्तु यहा तो प्रमुख सूत्रधार घातक गृह-कलह से ग्रस्त हैं, उन्हें एक-दूसरे के खून का प्यासा कहा जा सकता है। दुर्योधन के व्यवहार पर दृष्टि-पात करें। वह अपने भाई पांडवों को कैसे-कैसे कष्ट देता है। वह उन्हें घर में सोते हुओं को जलाने का प्रयत्न करता है। वह उन्हें जुआ खेलने के लिए आमंत्रित करता है, और छल-कपट से उन्हें हराता है, द्रौपदी का भरी सभा में अपमान करता है, और, पीछे पाडवों को जंगल मे रहने के लिए भेजता है। फिर, दुर्योधन अकेला ही पतित नहीं है। उसके सहायक, परामर्शदाता आदि सब उसके अनुरूप हैं। उसके भाई सम्बन्धी और मित्र उसका साथ देते हैं। उसका पिता भी उसकी अनीति को चुपचाप सहन करता है, और उसे सन्मार्ग पर लाने का कटु-कर्तव्य पालन नहीं करता। और तो और, भीष्म जैसे राजनीतिज्ञ भी उसका विरोध करने में अपनी असमर्थता का अनुभव करते हैं। द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और

अश्वत्थामा आदि में भी उसका नियंत्रण करने का साहस न हुआ। समस्त सत्ताधारी क्षत्री और तेजस्वी ब्राह्मण इस प्रकार अन्याय को सहन करें, कैसा घोर पतन है! वृहद् जन मंडली में केवल एक श्रीकृष्ण जी ही आगे बढ़ कर अपना कठोर कर्तव्य पुरा करते हैं, वे दुर्योधन को समय रहते सावधान करते हैं, उसे उसका कर्तव्य बतलाते हैं, और युद्ध-निवारण का भरसक प्रयत्न करते हैं। परन्तु विकार-ग्रस्त वातावरण के कारण उन्हें सफलता नहीं मिलती।

प्रायः आदमी विजयी पाडवों को 'धर्मावतार' और पराजित कौरवों को पापी या दुराचारी कहा करते हैं। परन्तु यह तो वही बात हुई कि 'समर्थ को नहीं दोष गुसाईं'। विजेताओं के सब अपराध क्षमा, और दुर्गुणों का सब भार पराजितों पर! अस्तु, हम पांडवों को सर्वथा 'दूध-का-धुला' मानने को तैयार नहीं है, यद्यपि कृष्ण जी के सहयोग ने उन्हें श्रद्धास्पद बना दिया है। प्रथम तो यही विचारणीय है कि वे कहा तक राज्य के उत्तराधिकारी थे। धृतराष्ट्र के अंधा होने से पांडु को राज्य करने का अवसर मिल गया, तो क्या धृतराष्ट्र के पुत्रों का, पीछे भी कुछ राज्यधिकार न रहा? और, जब दुर्योधन ज्येष्ठ होने से अपने आपको उत्तराधिकारी मानता है तो अपने प्रतिद्वन्दी पांडवों के प्रति उसके मन में दुर्भाव होना स्वाभाविक ही है। ऐसे व्यक्ति या उसके साथियों से जुआ खेलना, और उसमें अपने आप को तथा द्रौपदी को दाव पर रखकर उसकी अधीनता में जाने का अवसर देना, क्या युधिष्ठिर के लिए कुछ बुद्धिमत्ता की बात कही जा

सकती है ? माना कि उस समय जुआ खेलने की चुनौती को स्वीकार करने की रीति थी, पर युधिष्ठिर इस घातक रूढ़ि को तोड़ देते तो क्या सर्व-साधारण के सामने एक अच्छा उदाहरण उपस्थित न होता !

निस्सन्देह जब पाडव अपने लिए दुर्योधन से पाँच गाँव मागते हैं तो उसका कोरा जवाब देना दर्प-सूचक है। परन्तु किसी राजा का अपने विपक्षी को पड़ौस में रहने देना एक राजनैतिक भूल होती है। फिर, तत्कालीन परिस्थिति में राज्यों का क्षेत्र प्रायः यही होता था कि बीच में एक राजधानी हो, और उसके चारों ओर थोड़ी-सी भूमि और हो। अपने प्रतिद्वन्दियों को पाँच गाँव, जिनमें इन्द्रप्रस्थ जैसी राजधानी भी सम्मिलित हो, दे देने की हानि को कूटनीतिज्ञ दुर्योधन भली-भाँति समझता था। अतः उसका उत्तर नीति या धर्म की दृष्टि से चाहे जैसा हो, वह राजनीति के विचार से अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता; और चाहे युधिष्ठिर धर्मराज बनना पसन्द करता हो, दुर्योधन तो राजनीतिज्ञ ही रह कर संतुष्ट था, भले ही दूसरों की दृष्टि में उसकी राजनीति कुटिल प्रतीत हो।

फिर, इस कथन में भी कुछ विशेष सार नहीं है कि युधिष्ठिर का राज्य धर्म राज्य था और दुर्योधन का 'पाप राज्य'। इस बात का स्पष्ट परिचय मिलता है कि पाडवों के बनवास के समय दुर्योधन के शासन में प्रजा सुखी, समृद्ध और संतुष्ट रही। उसके लिए 'कोई होऊ नृप, हमें का हानि' की बात थी। दुर्योधन गद्दी पर रहा तो क्या, और

युधिष्ठिर को राज्य मिल गया तो क्या ! हम देखते हैं कि तेरह वर्ष के बाद आकर जब पाडव, राज्य अथवा उस के कुछ अंश पर, अपना अधिकार जताते हैं, तो अधिकांश प्रजा उनका साथ न देकर कौरवों के पक्ष में ही रहती है, और बड़े-बड़े महारथी भी, कौरव दल से सम्बन्ध-विच्छेद न करके, उसकी ही ओर बने रहते हैं।

अस्तु, कुछ कम-ज्यादह, कौरव और पाडव दोनों ही पक्षों की बातें चिन्तनीय थीं। दोनों में ही कुछ दुर्गुण थे। इन दुर्गुणों में गृह-कलह का संयोग हो गया। इससे साम्राज्य का क्षय और पतन अनिवार्य हो गया, और यह होकर रहा।

छठा अध्याय

मौर्य साम्राज्य

"दो हजार से अधिक वर्ष हुए, भारत के प्रथम सम्राट् ने वह 'वैज्ञानिक सीमा' प्राप्त कर ली थी, जिसके लिए उसके ब्रिटिश उत्तराधिकारी व्यर्थ में आह भरते हैं, और जिसे सोलहवीं और सतरहवीं शताब्दी के मुगल सम्राटों ने भी पूर्णतया प्राप्त नहीं किया था।"

—वी. ए. स्मिथ

हमारे पुत्र पौत्रगण नया देश जीतने की कभी इच्छा न करेंगे। अगर उन्हें कभी देश-विजय की प्रवृत्ति हो तो शान्ति और नम्रता का आनन्द अनुभव करें, और धर्म-विजय को ही यथार्थ विजय समझें, क्योंकि इससे इह-काल और पर-काल दोनों में सुख होगा।

—अशोक का शिला-लेख

हमारे रामायण-काल के तो क्या, महाभारत-काल के वैभव की भी साक्षी प्रायः हमारे ही ग्रन्थ हैं, पर सम्राट् चन्द्रगुप्त और अशोक के साम्राज्यों की सुव्यवस्था तथा तत्कालीन जनता की सुख-समृद्धि की प्रशंसा तो विदेशियों ने भी मुक्त कंठ से की है। इस विषय में कुछ समय पहले तक यथेष्ट ज्ञान-प्रद सामग्री प्राप्त न थी। अब कौटलीय अर्थशास्त्र के उपलब्ध हो जाने से इस सम्बन्ध मे क्रमबद्ध और प्रामाणिक वृत्तान्त मिल गया है। उस में सब बातें विशद तथा ब्यौरेवार रूप में लिखी हैं। उसे देखकर पाश्चात्य विद्वानों को भी

भारतवर्ष के तत्कालीन उत्कर्ष पर चकित होना पड़ रहा है। पहले वे इस बात की कल्पना ही नहीं कर सकते थे कि धार्मिक तथा आध्यात्मिक उन्नति में लगा हुआ भारत कभी भौतिक या आर्थिक क्षेत्र में भी इतना बढ़ा-चढ़ा होगा, विशेषतया उस समय जब कि अनेक पाश्चात्य राष्ट्रों का जन्म ही नहीं हुआ था, और आधुनिक 'सभ्य' जातियों के पूर्वज निरा जङ्गली जीवन बिता रहे थे। अस्तु, अब इस में कोई भी सन्देह नहीं रहा कि चन्द्रगुप्त का राज्य धन-धान्य से तो धनी था ही, वह नगर-निर्माण, सैन्य-सञ्चालन, दुर्ग-निर्माण, कृषि, आबपाशी, मनुष्य-गणना, आदि अनेक कार्यों में भी अपना अनुपम उदाहरण था।

स्मरण रहे कि इस समय साम्राज्य के आदर्श में बहुत परिवर्तन हो गया था। महाभारत-काल तक यहाँ अनेक स्वतन्त्र छोटे-छोटे राष्ट्रीय राज्य विद्यमान थे। सम्राट् उन स्वतंत्र राजाओं में से एक प्रमुख प्रतापी राजा होता था, उसका पराजित राजाओं से केवल कर या भेंट लेने का नाम-मात्र का सम्बन्ध होता था। परन्तु अब यह बात न रही थी। अब तो सम्राट् अपने अधीन राजाओं पर नियन्त्रण करने लगा, उनके प्रदेशों में अपने कायदे-कानून और अपना शासन चलाने लगा, एवँ सुविधानुसार एक या अधिक राज्यों के राजवंश नष्ट करके उन पर अपनी ओर से एक-एक प्रान्तीय शासक नियुक्त करने लगा। निदान, साम्राज्यों का आकार बड़ा होने लगा, उनका आधार राष्ट्रीय एकता न रहा, वरन् एक-एक राज्य में अनेक राष्ट्रों का समावेश हो चला।

राज्य के लिए राष्ट्र की अपेक्षा प्रदेश का महत्त्व अधिक हो गया। यह क्रिया ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व तक बड़ी तीव्र गति से होती रही; यहां तक कि सार्वभौम राज्य का आदर्श अब अखिल भारतवर्षीय राज्य माना जाने लगा।

साम्राज्य सम्बन्धी आदर्श के इस परिवर्तन के कारणों में एक उल्लेखनीय विषय बौद्ध धर्म का आविर्भाव और प्रचार है। बौद्ध धर्म की शक्तियां उसे अधिक-से-अधिक क्षेत्र में फैलाने के लिए कटिबद्ध थीं। यह धर्म किसी भी सीमा में परिमित रहना नहीं चाहता था। यह अपना 'चक्रवर्तित्व' स्थापित करने के प्रयत्न मे सफल भी हो रहा था। भारतवर्ष में तो यह राज-धर्म हो ही गया था। इसके अतिरिक्त, यह धर्म इस देश की सीमा को पार कर पूर्व पश्चिम के अनेक देशों में (ईरान, मिश्र, यूनान, तिब्बत, चीन, और बर्मा तथा लंका तक) अपनी पताका फहरा रहा था। इस बात का प्रभाव प्रबल प्रतापी शासकों पर पड़े बिना नहीं रह सकता था।

इस सम्बन्ध में यह बात भी स्मरण रखने की है कि बौद्ध धर्मानुयायी शासक आदि की दृष्टि में वैदिक साहित्य कुछ आदर की वस्तु न था। वे वैदिक मतानुयाइयों की कितनी ही क्रियाओं का प्रत्यक्ष खंडन करते थे। फल-स्वरूप उन्होंने उस वैदिक व्यवस्था की भी नितान्त अवहेलना की, जिसके अनुसार राजा की शक्ति परिमित रहती थी, और वह 'समिति' से नियन्त्रित रहता था। अब शासक कुछ निरंकुश सत्ताधारी होने लगे, और शासन-कार्य में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति बढ़ने लगी।

यह ठीक है कि मौर्य साम्राज्य में, तथा उसके पीछे भी बहुत समय तक, प्राचीन राजनैतिक संस्थाओं का अस्तित्व बना रहा; यही नहीं, स्थानीय स्वराज्य-संस्थाओं की खूब बल-वृद्धि भी हुई; पर इसका कारण यही है कि समाज या सर्व साधारण से सम्बन्धित परिवर्तन धीरे धीरे ही हुआ करते हैं।

मौर्य साम्राज्य की स्थापना से पूर्व यहाँ विभिन्न प्रकार की शासन-पद्धति वाले कितने ही राष्ट्र थे। इनके आपस में लड़ाई-झगड़े होते थे। कालान्तर में मगध, कौशल, वत्स, और अवन्ती ये चार राजतन्त्र, और कुछ प्रजातंत्र राष्ट्र रह गये। जब राजतत्र राष्ट्रों ने अपनी शक्ति बढ़ाना एवं अपना अपना साम्राज्य स्थापित करना चाहा तो हर एक के सामने, एक दूसरे को विध्वंस करने के अतिरिक्त, इन प्रजातँत्र राज्यों को भी नष्ट करने का कार्य था। अन्तत: मगध के राजा नन्द को इस कार्य में बहुत कुछ सफलता मिली। उसका साम्राज्य बना, हाँ, उसमें समस्त भारत तो क्या सारा उतरी भारत भी समाविष्ट न था। उसके बाद सुप्रसिद्ध प्रतापी चन्द्रगुप्त ने साम्राज्य का निर्माण किया। पहले उसने सिकन्दर द्वारा जीते हुए प्रदेशों को अपने आधीन किया, पीछे क्रमशः अन्य विविध राज्यों को जीत कर उसने, आचार्य कौटिल्य की सहायता से, मगध के साम्राज्य को खूब बढ़ाया। इस सम्राट् के बाद ई० पू० सन् २९८ में, इसका पुत्र बिन्दुसार गद्दी पर बैठा। इसने दक्षिण प्रान्तों को विजय किया। सम्राट् चन्द्रगुप्त की तरह बिन्दुसार के शासन-काल में भी भारतवर्ष का विदेशियों से घनिष्ट

सम्बन्ध रहा; सुदूर पश्चिमी एशिया के शासकों की ओर से पाटलीपुत्र में राजदूत रहता था। इन बातों से प्रकट है कि सम्राट् बिंदुसार भी बड़ा प्रतापी और शक्तिशाली रहा। इस सम्राट् के समय में, राज्य के पश्चिमोत्तर भाग में कश्मीर, पंजाब, और सिंधुनदी के पश्चिमी प्रदेश थे। इस भाग की राजधानी तत्कालीन सुप्रसिद्ध विद्या-केन्द्र तक्षशिला थी। पश्चिमी भारत की राजधानी उज्जैन थी, यह भी काफी प्रसिद्ध थी।

सम्राट् बिन्दुसार का देहान्त ई० पू० सन् २७२ में हुआ, पश्चात् अपने बड़े भाई सुसीम (या सुमन) को परास्त करके अशोक ने राज-सिंहासन प्राप्त किया। यह बिन्दुसार के समय में तक्षशिला का प्रान्तीय शासक रह चुका था, इस लिए इसे शासन-कार्य का अच्छा अनुभव था। इसका शासन-प्रबन्ध बहुत उत्तम था। ई० पू० सन् २६१ में घोर युद्ध के बाद इस सम्राट् ने कलिंग विजय किया। एक शिला-लेख से मालूम होता है कि इस युद्ध में लगभग डेढ़ लाख आदमी कैद किये गये, एक लाख मारे गये, और महामारी आदि से मरने वालों की संख्या तो अपरिमित ही थी। सम्राट् पहले से बौद्ध धर्म की ओर कुछ झुक रहा था, उसकी प्रवृत्ति अहिंसा की ओर थी। उपर्युक्त 'विजय' में, लोगों का संहार और कष्ट देखकर उसका हृदय द्रवित हो गया।

उसने खुले शब्दों में पश्चाताप और दुख प्रकट किया। उसके उपर्युक्त शिला-लेख (के अनुवाद) का वह अंश बहुत विचारणीय

है, जिसमें कहा गया हैः—"कलिंग को जीतने पर 'देवताओं के प्यारे'* को बड़ा पश्चाताप हुआ, क्योंकि जिस देश का पहले विजय नहीं हुआ है, उसका विजय होने पर लोगों की हत्या या मृत्यु अवश्य होती है, और न जाने कितने आदमी कैद किये जाते हैं। देवताओं के प्यारे को इससे बहुत दुःख और खेद हुआ। देवताओं के प्यारे को इससे और भी दुःख हुआ कि,वहां ब्राह्मण श्रमण तथा अन्य समुदाय के मनुष्य और गृहस्थ रहते हैं, जिन में ब्राह्मणों की सेवा माता पिता की सेवा, गुरुओं की सेवा, मित्र परिचित सहायक जाति दास और सेवकों के प्रति अच्छा व्यवहार किया जाता है, और जो दृढ भक्ति-युक्त होते हैं। ऐसे लोगों का वहाँ विनाश, वध, या प्रियजनों से बलात् वियोग होता है। अथवा, जो स्वयं तो सुरक्षित होते हैं, पर जिन के मित्र, परिचित, सहायक और सम्बन्धी विपत्ति में पड़ जाते हैं, उन्हें भी अत्यन्त स्नेह के कारण बड़ी पीड़ा होती है। यह सब विपत्ति वहां प्रायः हर एक मनुष्य के हिस्से में पड़ती है, इससे देवताओं के प्यारे को विशेष दुख होता है; क्योंकि ऐसा कोई देश नहीं है, जहां अनन्त सम्प्रदाय न हों, और उन सम्प्रदायों में ब्राह्मण और श्रमण (विभक्त) न हों; और, कोई देश ऐसा नहीं है, जहाँ मनुष्य एक-न-एक सम्प्रदाय को न मानते हों। कलिंग देश के विषय में उस समय जितने आदमी मारे गये, मरे या कैद हुये, उनके सौवें या हज़ारवें

* अशोक को तत्कालीन लेखकों ने प्रायः दो पदवियां दी हैं—'देवानाम् प्रिय' (देवताओं का प्यारा) और 'प्रियदर्शी' (सुन्दर स्वरूप वाला)।

हिस्से का नाश भी अब देवताओं के प्यारे को बड़े दुख का कारण होगा।"

सेनापतियों, सम्राटों और विजेताओं के लिए उनके ही वर्ग के एक बन्धु के उपर्युक्त शब्द कितने आलोचनामय हैं, कितने शिक्षा-प्रद हैं!

अस्तु, कलिंग उस समय एक बहुत शक्तिशाली राज्य था, इसकी विजय के बाद मौर्य साम्राज्य की शक्ति और विस्तार खूब बढ़ गया। अशोक का राज्य अब कृष्णा नदी के दक्षिण में द्राविडों के चेरा, चोल, और पाड्य राज्य को छोड़ कर समस्त भारतवर्ष भर में था। उत्तर में कश्मीर, नेपाल और अफगानिस्थान तक इसमें सम्मिलित थे; पश्चिमी प्रान्त बिलोचिस्थान, सिन्ध और गुजरात थे; पूर्व में कलिंग और बंगाल तक तथा दक्षिण में मैसूर तक इसी साम्राज्य के अन्तर्गत थे। साम्राज्य के समस्त प्रदेशों पर सम्राट् का प्रत्यक्ष और सीधा शासन न था। कई प्रदेशों के निवासी अपने आन्तरिक अथवा स्थानीय राज्य प्रबन्ध में थोड़े-बहुत स्वतंत्र भी थे।

अशोक का यह साम्राज्य काफी विशाल था। परन्तु इससे कहीं अधिक विस्तार था, उसकी धर्म-विजय का। अशोक ने विशेष-तया कलिग विजय के बाद अनुभव किया कि भौतिक विजय की अपेक्षा आत्मिक विजय श्रेयकर है, और उसके लिए शस्त्रों का प्रयोग सफल नहीं हो सकता, उसके वास्ते तो धर्म का साधन चाहिए। अशोक के समय के शिला-लेखों से उसके विचार, नियम

और नीति आदि का अच्छा और प्रामाणिक परिचय मिलता है। अशोक ने यह भली भांति स्पष्ट कर दिया कि धर्म से उसका अभिप्राय क्या है। एक शिला-लेख बतलाता है 'कि धर्म यह है कि दास और सेवकों से उचित व्यवहार किया जाय; माता-पिता की सेवा की जाय; मित्र, परिचित, सम्बन्धी, श्रमण, और ब्राह्मणों को दान दिया जाय; और प्राणियों की हिंसा न की जाय।' अशोक सब सम्प्रदायों में मेल और प्रेम बढ़ाना चाहता था, और इसके लिए प्रयत्नशील था। वह सब के प्रति उदार, सहिष्णु और दयालु था। उसने स्थान-स्थान पर कुए, प्याऊ, धर्मशाला, औषधालय और वाटिकाएँ तथा अनाथालयों की व्यवस्था की।

सम्राट् अशोक की नीति और कार्यों में बौद्ध धर्म की शिक्षा का गहरा प्रभाव था। उसने इसे कलिंग विजय के पश्चात् ग्रहण किया था। उसका शासन अपने क्षेत्र की जनता के लिए विलक्षण वरदान था। उसने अपनी प्रजा में सुख-शान्ति, कला-कौशल, शिक्षा, स्वास्थ्य और प्रेम-व्यवहार आदि की वृद्धि करना अपना कर्तव्य समझा, तथा लक्ष्य माना; और इसमें उसे बहुत-कुछ सफलता प्राप्त हुई।

सम्राट् अशोक के समय में मौर्य साम्राज्य का सूर्य मध्यान्ह में था। फिर तो यह क्रमशः अस्ताचल को चला। उसके उत्तराधिकारी पुत्र कुनाल या सुयश (ई० पू० २३२-२४) के समय में ही कश्मीर और आन्ध्र प्रदेश साम्राज्य से स्वतन्त्र हो गये। पश्चात् दशरथ के शासन-काल में कलिंग ने स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। दशरथ

का, और उसके बाद सम्प्रति (चन्द्रगुप्त द्वितीय) का, थोड़े-थोड़े समय शासन रहा। तदनन्तर शालिशुक गद्दी पर बैठा, इसने केवल एक ही वर्ष (ई० पू० २०७-२०६) राज्य किया था। इसके समय में एक ओर गृह-कलह ने साम्राज्य को क्षीण किया, दूसरी ओर इसके अत्याचारों ने उसके पतन में सहायता की। इसी समय से साम्राज्य पर पुनः यूनानी आदि विदेशियों के आक्रमण हुए, और यद्यपि वे जल्दी ही भारत से लौट गये, पर साम्राज्य काफी निर्बल हो गया, जगह-जगह स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना हो गयी। मौर्य वंश का अन्तिम सम्राट् बृहद्रथ (ई० पू० सन् १९१-१८४) हुआ। सेनापति पुष्यमित्र ने इस निर्बल सम्राट् को मार कर, अस्ताचल की ओर जाने वाले मौर्य साम्राज्य का अन्त कर दिया। यह सेनापति शुंग वंश का था, अतः अब से मौर्य साम्राज्य का उत्तराधिकारी शुंग साम्राज्य हो गया।

मौर्य साम्राज्य की कीर्ति आज दिन कुछ शिला-लेखों में सुरक्षित है। अपने समय में वह अद्वितीय था। पर स्थूल वैभव और विस्तार की अपेक्षा उसका आध्यात्मिक कार्य और भी अधिक गर्व की वस्तु है। इस दृष्टि से संसार भर के इतिहास में मौर्य साम्राज्य का अपना विशेष स्थान है। अन्य साम्राज्यों ने कहने को तो सभ्यता-प्रचार का दम भरा, पर वास्तव में अधिकांश ने अपनी बहुत-सी शक्ति नर-संहार, दमन, शोषण और पर-पीडन में लगा कर, जैसे-बना अपने देश को, अथवा उसके भी केवल थोड़े से

आदमियों को ऐश्वर्य और विलासिता के साधनों से सुसज्जित करने में लगायी। मौर्य साम्राज्य ही अशोक के समान ऐसे सम्राट् का अभिमान कर सकता है, जिसने भारी सेना और सामग्री होते हुए भी भौतिक विजय करना अपनी शान के ख़िलाफ समझा, जिसने अपनी शक्ति का उपयोग दूर-दूर की जनता में वास्तविक धर्म और सभ्यता का प्रचार करने में किया। अशोक के प्रचारक लोगों को किसी सम्प्रदाय विशेष की शिक्षा देने अथवा उसके अनुयाइयों की संख्या बढ़ाने नहीं गये; उनका उपदेश यही होता था कि परस्पर प्रेम से रहो, सत्य और अहिंसा का पालन करो, अपने जीवन का उद्देश्य दूसरों की सुख-शांति बढ़ाना समझो। संसार के अन्य किस साम्राज्य ने शस्त्र-सन्यास लिया, और ऐसे प्रेम-धर्म का प्रचार किया ?

फिर, संसार के प्रायः समस्त साम्राज्यों और सभ्यताओं का आधार गुलामी या दासता की प्रथा रही है। अवश्य ही गुलामी का रूप देश-काल के अनुसार बदलता रहा है। सभ्यता का गर्व करने वाले मिश्र, यूनान और रोम इसका अन्त करने का साहस न कर सके। क्या यह कुछ कम महत्व की बात है कि मौर्य साम्राज्य के सूत्रधार कौटिल्य ने इसका सर्वथा विरोध किया; वह भी मौखिक ही नहीं, क्रियात्मक रूप से। उसने घोषणा की कि 'आर्य कभी दास नहीं हो सकते'। कौटलीय अर्थशास्त्र में वे नियम विशद रूप से दिये गये हैं, जिनके अनुसार कार्य

होने से दासों की वृद्धि पर कठोर प्रतिबंध लग गये, जो व्यक्ति पहले से दास थे उनकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो गया, एवं जो दास रह भी गये तो उनकी दशा बहुत सुधर गयी, उनके सदाचार की रक्षा हो गयी, और, इस प्रथा का प्रायः अंत ही हो गया। तभी तो यूनानी लेखकों और यात्रियों को यहां गुलामी का अभाव प्रतीत हुआ है। दासता का सहारा लिए बिना मौर्य साम्राज्य ने इतनी आर्थिक उन्नति की, यह बात अन्य तत्कालीन साम्राज्यों के लिए आश्चर्यजनक थी, और पीछे के साम्राज्यों के लिए अनुकरणीय एव शिक्षा-प्रद रही है।

अब इस साम्राज्य के पतन पर विचार करें। पतन का एक मुख्य कारण प्रजातत्र और गण-राज्यों का केन्द्रीय सत्ता से अलग और स्वतंत्र रहने का भाव था। आचार्य कौटिल्य की नीति से इन्हें जैसे तैसे वश में किया गया था, फिर भी उनमें बहुत-सों में स्वाधीनता का भाव मौजूद था। कुछ की पृथक् सत्ता तो साम्राज्य ने मान भी रखी थी। पीछे, जब न तो अशोक जैसे प्रतापी सम्राट् रहे, और न कौटिल्य जैसे महामंत्री, जब एक ओर गृह-कलह और दूसरी ओर बाहर वालों के आक्रमण हों, तो जिन राज्यों का वश चला, उनका साम्राज्य की अधीनता से मुक्त हो, अपने स्वतंत्र अस्तित्व का प्रयत्न करना स्वाभाविक था।

पुनः अशोक के समय से यह साम्राज्य एक 'धार्मिक' साम्राज्य था। यह इसके लिए सौभाग्य की बात थी कि अशोक ने धर्म का अर्थ

बहुत व्यापक और व्यावहारिक लिया था। उसे किसी सम्प्रदाय विशेष के प्रचार की धुन न थी। दूसरों से दयालुता का व्यवहार करना, दीन दुखी की सहायता करना, माता-पिता और गुरुजनों की सेवा करना, तथा सत्य और अहिन्सा आदि सद्गुण ही उसके धर्म के प्रधान अंग थे। और, ऐसा धर्म तो साम्राज्य की विविध जातियों, सम्प्रदायों और वर्गों में पारस्परिक एकता की वृद्धि ही करता है। पर अशोक के बाद इस साम्राज्य के सूत्र-संचालक धर्म का संकीर्ण अर्थ लगाने लगे। बौद्ध और जैन धर्म कुछ खास लोगों का धर्म हो गया, और सम्राटों की इन्हीं पर कृपा-दृष्टि रहने लगी। इन धर्मों के प्रचार के लिए राज-कोष से असंख्य द्रव्य और शक्ति का व्यय किया जाने लगा। सम्राट् सम्प्रति ने तो सैनिकों तक से, साधु-वेश में धर्म-प्रचार का कार्य कराया। हृदय से धार्मिक न होने वाले सम्राट् भी धर्म का ढोंग रचने लगे। राज-धर्म और ब्राह्मण धर्म (हिन्दू धर्म) में समझौता न हो सका। बौद्ध धर्माचार्यों ने वेदों, वर्ण-व्यवस्था, और यज्ञों का विरोध किया। यह विरोध ब्राह्मणों के लिए असह्य था; उन्होंने बौद्ध धर्म के विरुद्ध जोर-शोर से प्रचार किया। फिर, बौद्ध मठों के अधिकारियों और भिक्षुओं का जीवन बहुत आदर्श-हीन तथा पतित हो चला था। लोगों की बौद्ध धर्म से श्रद्धा उठती गयी, और क्योंकि शासक उस धर्म के समर्थक थे, अतः वे भी जनता की दृष्टि में अप्रिय हो गये।

साम्राज्य में धर्म की भावना प्रबल थी। कालान्तर में इस बात का प्रयत्न किया जाने लगा कि अधिक-से-अधिक आदमी बौद्ध धर्म के

अनुयायी हों, बौद्ध धर्म की रीति, व्यवहार, और प्रथाओं को माने और पालन करें। राज्य के अन्य आवश्यक कार्यों की उपेक्षा की जाने लगी। ऐसी बातों से राजनीति में शिथिलता आ गयी। राज्य का स्वरूप ही बदल गया। राज्य के कर्मचारी धर्मोपदेशकों का कार्य करने लगे, और धर्माधिकारी राज्य-सूत्रधार बन गये। अशोक के उत्तराधिकारियों में कोई ऐसा न था जो इस 'धार्मिक' साम्राज्य को संभाल सकता।

यह साम्राज्य जिन तत्वों के सहारे खड़ा हुआ था, उनमें घुन लगना आरम्भ हो गया। यह साम्राज्य चक्रवर्ती न था, यह 'एक-छत्र-अधिकार' पर, निर्भर था। इस अधिकार के लिए चाणक्य ने वृहत् अर्थशास्त्र लिख कर ठोस शासन की नींव डालनी चाही थी। उसने साम्राज्य के लिए 'अर्थ' प्रधान रखा था, शेष सभी संस्थाओं और प्रवृत्तियों को गौण कर दिया था। उसने धर्म के ढोंग तक को प्रोत्साहन देने का विधान किया, क्योंकि उससे साम्राज्य का 'अर्थ' सिद्ध होता था। उसने जिस परिणति (Conversion) को माना, वह राजकीय परिणति थी। राजकीय सत्ता में विश्वास कराया जाय, बस। धार्मिक परिणति का उसके यहां मान न था। इस सब के लिए, जहां शासक में प्रजा-पालन की योग्यता बहुत ऊंचे दर्जे की चहिए थी, वहां सैनिक बल भी अत्यावश्यक था। इनसे बने हुए साम्राज्य को ज्यों-का-त्यों अशोक ने स्वीकार कर लिया, पर शीघ्र ही उसने 'धर्म' को 'अर्थ' के बराबर स्थान दे दिया। राजनैतिक परिणति के लिए धार्मिक परिणति अनिवार्य सी हो गयी। जिस संस्था को अब तक राजकीय आश्रय अथवा संरक्षण मात्र प्राप्त था, जो साम्राज्य की जनता के लिए केवल निजी क्षेत्र की वस्तु थी, जो जनता की मनोवस्था को राजा के अनुकूल बनाये रखने का उद्योग करती रहती थी, उस संस्था को अशोक ने अपने साम्राज्य में मुख्य साधन के रूप में ग्रहण कर लिया।

यह उद्योग चाणक्य के साम्राज्य में 'कलम लगाने' के समान हुआ। सारा ढांचा वही था; उसमें सैनिक बल को गौण कर उसके स्थान पर धर्म-बल को आरूढ़ कर दिया गया। इसने 'अर्थ-साम्राज्य' के एक भारी स्तम्भ को कमज़ोर बना डाला। धर्म की संस्था जब राजा के हाथ में आ जाय तो वह सैनिक बल से भी अधिक अत्याचार करने वाली सिद्ध होती है। सैनिक बल प्रजा के घर के बाहर ही अपना प्रभुत्व रखता है; घर के भीतर, और अन्य आचरणों में मनुष्य का अपना मन मस्तिष्क स्वतंत्रता अनुभव करता है। अशोक ने बौद्ध धर्म को राज-धर्म मान कर जन के मन और घर में भी राजकीय भय और विकलता पैदा करदी। यह अवस्था कुछ समय तक ही सही जा सकती है। प्रचार के प्रबल उद्योग से, जन के मन को वशीभूत रखा जा सकता था। अशोक का अपने आचरणों का उदाहरण भी जनता को वश में रखने में सहायक था, पर उसके अनन्तर उत्तराधिकारियों को स्वयं धर्म में वह आस्था न रह सकी, जो अशोक में प्रत्यक्ष ज्ञान से उत्पन्न हुई थी। वे उस धर्म-चक्र को न चला सके। जिन राजाओं और गण-तंत्रों को अशोक ने सैनिक भय से अपने आधीन न कर धर्म-प्रेम और धर्म-साम्राज्य के सिद्धान्त पर केवल सम्बद्ध कर रखा था; वे 'भावी कल्याण' का महत्त्व कम होजाने पर, धर्म का सूत्र क्यों बांधे रहेंगे! वे छिन्न होकर अलग जा पड़े। धर्म जो साम्राज्य का बल था, अब उसकी दुर्बलता बन गया। उसने साम्राज्य के शरीर को क्षीण कर दिया। ऐसे साम्राज्य से जो देश विलग हो रहे हैं, उन्हें क्या धर्माध्यक्ष भेज कर आधीन किया जा सकता था। भय आधीन भी करता है, और भयभीतों को दुर्बल भी बनाता है। यह साधन अशोक के उत्तराधिकारीगण अशोक की मृत्यु के एक दम बाद ही उपयोग में ला सकते थे। धर्म का आधार प्रेम था। प्रेम से जैसे मिला जा सकता

है, वैसे ही प्रेम-पूर्वक अलग भी हुआ जा सकता है। और, सब से बड़ी कमजोरी यह पैदा हो गयी थी कि सारा साम्राज्य सम्राट अशोक के प्रेम के जादू से वशीभूत था, सम्राट को उसकी प्रजा अथवा अधीन राजाओं द्वारा प्रेम के वशीभूत किये जाने की कोई ठोस व्यवस्था नहीं की जा सकी थी। साम्राज्य की भित्ती किसी पारस्परिक प्रेम-बंधन पर नहीं थी, जो अनन्त काल तक सुदृढ़ रहे। फिर एक ओर का जादू तो शीघ्र शिथिल ही हो जायगा। यह मूल रोग साम्राज्य में घर पा गया। वह पतित हो गया। [श्री० सत्येन्द्र जी एम० ए०, मथुरा, का नोट]

कुछ लोगों का यह भी मत है कि अलज्ञ, अदूरदर्शी तथा कट्टर धर्माचार्यों के हाथों अहिंसा का ऐसा दुरुपयोग हुआ कि वह कायरता में ही परिणत हो गयी; आततायियों से अपनी तथा देश की रक्षा करने में लोगों को अधार्मिकता की गंध आने लगी, और ये कार्य समाज में निम्न श्रेणी के समझे जाने लगे। परन्तु इस विषय में बहुत मत-भेद है। यह नहीं कहा जा सकता कि मौर्य साम्राज्य की सेना उसके उत्तर-काल में निस्तेज और कमजोर हो गयी थी; जालौक ने इसी सेना से यूनानियों को परास्त किया, तथा कश्मीर में राज्य स्थापित किया था। अस्तु; हमारे विचार से मौर्य साम्राज्य के विनाश के प्रमुख कारण वही हैं, जो पहले बताये गये हैं। क्या इन कारणों का अधिकांश दायित्व स्वयं उसके ही, पीछे के शासकों पर नहीं है?

सातवाँ अध्याय

मुग़ल साम्राज्य

उम्र की किश्ती को खतरे से बचाकर खेइये।
नाखुदा नादान दुख दरिया में लाखों डुबो गये॥

मकबरों में पैर फैलाये हुए सोते हैं वह।
था जमीं से आसमा तक जिनका शोहरा एक दिन॥

मुग़ल साम्राज्य भारतवर्ष में, सोलहवीं सदी में स्थापित हुआ। परन्तु इसके बारे में विचार करने की सुविधा के लिए, यहाँ की, कुछ पहले की परिस्थिति पर भी एक नज़र डाल लें।

बारहवीं शताब्दी में यहाँ की संगठन-हीनता, धार्मिक संकीर्णता तथा सामाजिक निर्बलता और विशेषतया राजपूत राजाओं की फूट आदि से आकर्षित होकर, अफ़ग़ानिस्तान के जोशीले मुसलमान यहा आक्रमण करने लग गये। इस समय भारतीय राष्ट्र बहुत रोगी था। एकता और चेतनता का अभाव था। जब इसके एक भाग पर आक्रमण होता था, तो उसके निकटवर्ती भाग के अधिकारी सुख की नींद सोये रहते थे। उन्हें यह विचार नहीं होता था कि उनकी उपेक्षा से आक्रमणकारी का बल बढ़ेगा, और वह पीछे स्वयं हम पर भी हमला कर सकेगा, और उनमें सफल भी हो सकेगा। सर्वसाधारण की

बात लीजिए, वे अपने भाग्य को कोस कर रह जाते थे, आपत्ति-निवारण का उपाय न करते थे। उनमें झूठी आन की बान थी, उचितानुचित का ध्यान नहीं था। जाति और धर्म के मत-भेदों में ही मगज़पच्ची करने वालों और मिथ्याभिमान रखने वालों से और क्या आशा हो सकती है! अस्तु, गनीमत समझिए कि कई शूरवीर नरेशों ने सम्राट् पृथ्वीराज की सहायता के लिए रणक्षेत्र में जी-जान से लड़ना अपना कर्तव्य समझा। परन्तु उसके साम्राज्य की रक्षा कब तक होती, विशेषतया जब कि वह विलासिता में लीन हो चला था, और कई विवाह करके अनेक राजाओं की शत्रुता मोल ले चुका था, तथा स्वयं अपने भाई बन्धुओं को अपना विरोधी बना चुका था। इस साम्राज्य का अन्त होना अनिवार्य था, और वह हो गया।

हिन्दू राजा जैसे-तैसे कुछ छोटे-छोटे राज्यों को सँभाले रहे। देहली की गद्दी पर क्रमशः गुलाम, खिलजी, तुगलक, सैयद और लोदी आदि मुसलमान वंशों के शासक बैठे। प्रायः ये भी कुछ विशेष शक्तिशाली न होने पाये; ये संगठित व्यवस्था न कर सके, और ये चारों ओर विरोधियों से घिरे रहे। प्रजा के सामने 'यह आया, वह गया, का दृश्य रहा। निरंतर परिवर्तन होते रहे। अन्ततः कष्ट-सहिष्णु बाबर ने सन् १५२६ ई० में यहां मुगल साम्राज्य की स्थापना की। वह तैमूर के वंश में से था। इसका पिता फ़रगाना राज्य का मालिक था जो मध्य-एशिया मे है। मुग़ल मध्य-एशिया के ही रहने वाले थे। बारहवीं सदी में इनका एक बड़ा सरदार चंगेज़खां था, जिसके बारे में,

चीन के मंगोल साम्राज्य के प्रसंग में लिखा जायगा। मंगोल और मुग़ल एक ही बात है। फारसी और अरबी में यह शब्द मुग़ल लिखा जाता है, योरपवाले 'मंगोल' शब्द का भी प्रयोग करते हैं।

बाबर साहसी था, उसके मन में बादशाह बनने और अपना राज्य बढाने की उमंग थी। उसने कई लड़ाइयाँ लड़ी। उसे काबुल मिल गया, पर समरकंद पाने में वह सफल न हुआ। पीछे वह भारतवर्ष के लोदी राजवंश की निर्बलता और संगठन-हीनता का लाभ उठाकर यहां आया। उसने इब्राहीम लोदी को पानीपत के मैदान में हराया। बाबर की जीत का एक मुख्य कारण यह भी था कि वह नये तरीके से लड़ा, उसने तोपखाने से काम लिया, जब कि इब्राहीम की युद्ध-प्रणाली पुराने ढङ्ग की थी। संसार में ऐसा राज्य या जाति बहुत समय जीवित नहीं रहती, जो समय के अनुसार प्रगति न करें। अस्तु, बाबर को उपर्युक्त विजय से दिल्ली और आगरा मिल गया। पर वह इसी से संतुष्ट न हुआ; उसने राजपूतों को भी आधीन करना चाहा। इसके लिए उसने मद्यपान का त्याग करके अद्भुत् दृढ़ता का परिचय दिया। उसने शराब पीने के बहुमूल्य वर्तन तोड़ डाले, और यह प्रतिज्ञा की कि अब कभी शराब न पीऊँगा। ऐसे बीर को विजय-लक्ष्मी कृतार्थ करे तो क्या आश्चर्य। राजपूतों की पराजय रही। उनके साम्राज्य-स्थापना की आशा जाती रही। बाबर ने यह लड़ाई भी उसी तरीके से लड़ी, जिससे उसने पानीपत में विजय पायी थी। इसमें उसकी जीत का कारण तोपखाना और सेना की सुव्यवस्था थी। इसके बाद बाबर

ने मालवा, बुन्देलखंड तथा विहार पर अधिकार किया, बङ्गाल के राजा ने उससे संधि कर ली। इस प्रकार यद्यपि बाबर को अपने राज्य का सङ्गठन करने का अवसर न मिला, उसकी मृत्यु के समय (सन् १५३० ई०) उत्तर भारत में मुग़ल साम्राज्य की स्थापना हो गयी।

बाबर से पहले जितने मुसलमान बादशाह हुए थे, उनसे बाबर में कई विशेषताएँ थीं। पहले बादशाह खलीफ़ा की अधीनता स्वीकार करते थे, और उसके फरमान के आधार पर यहां राज्य करते थे। बाबर ने किसी बाहरी शक्ति का प्रभुत्व स्वीकार न किया, वह स्वयं यहां का बादशाह बना। इस प्रकार वह पहला मुसलमान बादशाह हुआ जो बाहरी शक्तियों की अधीनता से मुक्त था। वह विशेषतया साधुओं और फ़क़ीरों की संगति से धार्मिक बातों में बहुत उदार हो गया था। वह हिन्दुओं और मुसलमानों में भेद करना नहीं चाहता था। उसकी नीति दोनों जातियों में मेल कराने की थी। जल्दी ही मर जाने के कारण उसे ऐसा अवसर न मिला, कि इस नीति को कुछ विशेष रूप से अमल में लाता। किन्तु वह अपने पुत्र हुमायूँ के लिए एक 'निजी वसीहतनामा' छोड़ गया, जिससे उसके हृदय की उदारता का यथेष्ट परिचय मिलता है। असली वसीहतनामा फारसी में है, और भोपाल के सरकारी पुस्तकालय में सुरक्षित है। आगे उसका भावानुवाद दिया जाता है:—

"मेरे पुत्र! भारतवर्ष में भिन्न-भिन्न धर्मों के मानने वाले रहते हैं। ईश्वर को धन्यवाद है कि उस बादशाहों के बादशाह ने इस देश का राज्य तुम्हें सौंपा है। इसलिए

१—तुम्हें कभी धार्मिक पक्षपात मन में न आने देना चाहिए। और सब जातियों के आदमियों के धार्मिक रीति रिवाज का समुचित ध्यान रखते हुए सब के साथ निष्पक्ष रूप से न्याय करना चाहिए।

२—विशेष रूप से तुम्हें गो-हत्या से परहेज़ करना चाहिए। इससे तुम्हें भारतवासियों के हृदय पर अधिकार पाने में सहायता मिलेगी। इस प्रकार तुम इस देश के आदमियों को कृतज्ञता के सूत्र में बांध सकोगे।

३—तुम्हें किसी जाति के पूजा-स्थान (मंदिर) को कदापि नष्ट न करना चाहिए, और हमेशा न्याय-प्रेमी होना चाहिए, जिससे बादशाह और प्रजा में हार्दिक प्रेम का सम्बन्ध रहे, और देश में शान्ति और सन्तोष हो।

४—इसलाम धर्म का प्रचार अत्याचार की तलवार की अपेक्षा प्रेम द्वारा अच्छी तरह होगा।

५—शिया सुन्नियों के पारस्परिक वादविवाद की ओर ध्यान न दो, अन्यथा इसलाम में कमज़ोरी आयेगी।

६—प्रजा की विभिन्नताओं को वर्ष की भिन्न-भिन्न ऋतुओं के समान समझो, जिससे राष्ट्र में कोई विकार न आने पावे।

दुर्भाग्य से हुमायूँ को शान्ति-पूर्वक राज्य करना नसीब न हुआ । वह यहा संगठन-कार्य न कर सका । चारों ओर वह शत्रुओं से घिरा हुआ था। उसे बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, यहा तक कि शेरशाह नामक अफ़गान से हार जाने पर उसे यहाँ से भाग जाना पड़ा। अन्ततः पन्द्रह वर्ष बाहर बिताकर, उसने शेरशाह के निर्बल वंशजों से अपना राज्य वापिस लिया। फिर जल्दी ही उसका देहान्त हो गया । अब उसका प्रतापी पुत्र अकबर राजगद्दी पर आया ।

अकबर में वे सब गुण थे, जो योग्य साम्राज्य-निर्माता में होने चाहिएँ। वह विचार शील था। ;उसे अपने बाबा बाबर का हिदायत-नामा मिला, जिस पर हुमायूँ को अमल करने का अवसर नहीं मिला था। उसने यह भी अनुभव किया कि हुमायूँ को कैसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था, और उसका राज्य कैसा अस्थिर रहा था। उसने अच्छी तरह जान लिया कि भारतवर्ष के सुदृढ़ साम्राज्य की स्थापना के लिए हिन्दू-मुसलिम एकता अनिवार्य है। उसने इस प्रश्न पर उदारता और निष्पक्षता से विचार किया, और, अपने सामने एक निश्चित् लक्ष्य रख कर अपना कार्य-क्रम स्थिर किया। उसकी शासन-नीति का रहस्य यह रहा कि हिन्दुओं को यह ख्याल करने का मौका न दिया जाय कि यहा विदेशियों या विधर्मियों का राज्य है। वह सब को समान समझता था। पर यही काफ़ी न था। आवश्यकता थी कि राज्य के सब अधिकारी इसी भावना

से काम करें। अतः उसने उच्च पदों पर हिन्दुओं की नियुक्ति की, अथवा ऐसे व्यक्ति नियुक्त किये, जो हिन्दुओं के साथ अच्छा व्यवहार करें। हिन्दुओं में राजपूत अपनी वीरता तथा सैनिक गुणों के लिए प्रसिद्ध थे, उनसे अकबर ने विवाह सम्बन्ध करके उन्हें अपनी ओर मिलाने तथा उन्हें पूरा राजभक्त बनाने का प्रयत्न किया। इसमें उसे ख़ूब सफलता मिली। केवल मेवाड़ का राणा-प्रताप अपनी आन पर डटा रहा, अन्य राजपूत उसके सेवक और मित्र हो गये थे। वे अकबर के साम्राज्य के विरोधी रहने के बजाय, उसके सहायक और आधार स्तम्भ बन गये। कितने ही राजपूत बादशाही फौज़ में ऊँचे ऊँचे मनसबदार तथा सेनाध्यक्ष हो गये।

अन्य बातों में भी अकबर का व्यवहार हिन्दुओं के साथ बहुत उदार और प्रशंसात्मक रहा। मुसलिम शासकों की बहुधा यह नीति रहती थी कि जो जातिया सैनिक सेवा में सहयोग न करें, उनसे वे 'जज़िया' नामक कर लेते थे। और, क्योंकि प्रायः ग़ैर-मुसलिम ही ऐसे होते थे जिन्हें यह कर देने का प्रसंग आता था, कालान्तर में यह कर धार्मिक पक्षपात का सूचक हो गया। अकबर ने यह कर माफ कर दिया। उसने अपनी समस्त प्रजा को, बिना भेद-भाव, धार्मिक स्वतन्त्रता दी। कोई व्यक्ति चाहे जिस धर्म का पालन करे, राज्य की दृष्टि में सब समान थे। यद्यपि स्वयं अकबर को पहले सुन्नी धर्म की शिक्षा मिली थी, ज्यों-

ज्यों वह बड़ा होता गया, उसे धार्मिक असहिष्णुता फैलाने वाले मुल्ला मौलवियों से अरूचि हो गयी। वह सब धर्मों में सत्य की खोज करने लगा। उसने विविध धर्मों की बहस (शास्त्रार्थ) सुनी, इसके लिए उसने अपने फतहपुर सीकरी के महलों में एक इबादतखाना (पूजा-घर) बनवाया, वहां ब्राह्मण, जैन, ईसाई, पारसी और यहूदी भी भाग लेते थे। राजपूतों के मेल-जोल तथा हिन्दू-राजकुमारी से विवाह करने से उसका झुकाव हिन्दू धर्म की ओर हो ही रहा था। अब शास्त्रार्थों ने उसे और भी उदार-हृदय बना दिया। वह यह मानने लग गया कि ईश्वर एक है, विविध धर्म उसके पास पहुँचने के अलग-अलग रास्ते हैं। सब का लक्ष्य एक ही है। इनमें पक्षपात या भेद-भाव करना मूर्खता या अल्पज्ञता है। जो बात मंदिर मे है, वही मसजिद में, और वही गिरजाघर में। उसने एक नया धर्म 'दीन-इलाही' चलाने का प्रयत्न किया, जिसमें सब धर्मों की अच्छी-अच्छी बातों का समावेश हो। परन्तु लोगों के विचारों में जल्दी विशेष परिवर्तन नहीं होता। इसलिए उसका यह मत बहुत नहीं फैला, कट्टर मुसलमान उससे घृणा करते थे, और कट्टर हिन्दू उसे 'मीठी छुरी' समझते थे। तथापि इससे उसकी धार्मिक उदारता और सम-भाव का स्पष्ट परिचय मिलता है।

बादशाह का खान-पान, रहन सहन, मनोरंजन, इबादत (पूजा आदि) कोई बात ऐसी न थी, जिससे हिन्दू उसे ग़ैर समझें। हां, कई बातों से तो मुसलमान ही उससे अप्रसन्न रहे, उदाहरणवत् उसने

नीति बनाये रखी। यह शासन-प्रबन्ध की ओर यथेष्ट ध्यान देता रहा; केवल वृद्धावस्था में इसने कुछ कार्य अपने पुत्र दारा को सौंप दिया। इसने साम्राज्य घटने नहीं दिया, वरन् उसमें अहमदनगर और मिला लिया। यह निर्माण-कला का विशेष प्रेमी था। अपनी प्यारी बेगम मुमताज महल की यादगार में इसने आगरे का ताजमहल बनवाया जो संसार भर की प्रसिद्ध इमारतों में से है, और जिसे देखने के लिए दूर-दूर के यात्री यहाँ आते रहते हैं। शाहजहां ने दस करोड़ रुपये की लागत से तख्त ताऊस भी बनवाया था, जिसमें सर्वत्र बहुमूल्य हीरे जड़े हुए थे। समय की बलिहारी! ऐसी शान-शौकत वाले सम्राट् को अपने जीवन के अन्तिम आठ वर्ष कैद मे व्यतीत करने पड़े। यद्यपि इस बादशाह का देहान्त सन् १६६६ ई० में हुआ, इसका शासन-काल सन् १६५९ ई० में समाप्त हो गया था, जब कि इसके पुत्र औरङ्गजेब ने इसे कैद करके राज-सिंहासन पर अधिकार कर लिया और धूमधाम से अपना राज्याभिषेक किया।

औरङ्गजेब का, मुगल साम्राज्य के इतिहास में एक विशेष स्थान है। इसके विषय में, विशेषतया इसके विपक्ष में, बहुत-कुछ लिखा गया है। समुचित विचार करने के लिए उसकी परिस्थिति को समझना आवश्यक है। औरङ्गजेब के विरुद्ध गद्दी का दावेदार इसका भाई दारा था, जिसका झुकाव हिन्दुओं की ओर था, और जिसे हिन्दुओं की सहानुभूति और सहायता प्राप्त थी। उसके विरोध में सफल होने के वास्ते, औरङ्गजेब के लिए यह आवश्यक था कि वह दारा-विरोधी

शक्तियों का सगठन करे, और उन्हें अपनी ओर मिलावे। इस लिए उसने कट्टर मुसलमान और मौलवी-मुल्लाओं को अपनाया। इनका आदर-सम्मान किया जाने लगा, इन्हें संतुष्ट रखने का प्रयत्न होने लगा। अकबर की, हिन्दुओं से मेल-जोल बढ़ाने की नीति त्याग दी गयी। जज़िया कर फिर लगा दिया गया। शाही दरबार की तरफ से हिन्दू त्यौहारों का मनाया जाना, तथा उनमें बादशाह का भाग लेना बन्द हो गया। क्रमशः शासन का स्वरूप ही बदल चला। औरङ्गज़ेब बुद्धिमान और अनुभवी था। उससे यह छिपा न था कि ऐसी नीति का परिणाम साम्राज्य-सगठन के लिए अहितकर होगा, पर इसके लिए उसके पास कोई चारा न था।

औरङ्गजेब के व्यक्तिगत जीवन के विषय में कोई शिकायत नही है। वह संयमी, सदाचारी और सादे रहन-सहन वाला था। वह खूब कुशल था। यदि उसे अपने ही धर्म वाली प्रजा मिलती—यदि वह किसी ऐसे भू-भाग का सम्राट् होता, जहा की प्रजा मुसलमान ही नहीं, सुन्नी मुसलमान होती, तो सम्भव था कि वह एक चतुर और सुखदायी शासक सिद्ध होता, उसके समय में साम्राज्य की दृढ़ता बढ़ती। पर जिस मुग़ल साम्राज्य से उसका सम्बन्ध जुड़ा था, उसमे तो हिन्दू जनता का बाहुल्य था, कुछ शिया राज्य भी थे। यह इस साम्राज्य का दुर्भाग्य था कि उसके सिंहासन पर औरगज़ेब बैठा, जिसमें अन्य गुण होते हुए भी अकबर की उदारता और धार्मिक समभाव आदि का अभाव था। अन्य जाति

वालों की तो बात ही क्या, वह अपने सहधर्मियों और भाई-बन्धुओं के प्रति भी सशंक था। उसने स्वयं अपने पिता को क़ैद करके और सहोदर भाई-बन्धुओं को आधीन या परास्त करके राजगद्दी पर अधिकार किया था। उसे अपनी प्रभुता निष्कंटक रखने की अतिशय चिन्ता थी, पर वह निष्कंटक हो ही कैसे सकती है, जब कि उसका आधार अविश्वास, अदूरदर्शिता, और धार्मिक असहिष्णुता हो।

औरंगज़ेब यहां का छठा मुग़ल सम्राट् था, उसका देहान्त सन् १७०७ ई० में हुआ। यद्यपि उसके बाद नौ मुग़ल बादशाह हुए, वास्तव में वही इस वंश का अन्तिम प्रसिद्ध साम्राट् था। उसके धार्मिक या जातिगत पक्षपात तथा उसके उत्तराधिकारियों की निर्बलता और विलासिता आदि के फल-स्वरूप यहां क्रमशः कई विरोधी शक्तियां खड़ी हो गयीं। राजपूत जो पहले मुग़लों के मुख्य सहायकों में थे, अब असंतुष्ट होने के कारण, उसकी सहायता से हाथ खैंच रहे थे। जाटों ने आगरा और मथुरा आदि पर अधिकार जमा लिया था। दक्षिण भारत में भिन्न-भिन्न प्रांतों के सूबेदार स्वाधीन राज्य स्थापित करने लगे। शांत और सहिष्णु सिक्खों ने शासकों के अत्याचार से तंग आकर सैनिक स्वरूप धारण किया, और पंजाब, पश्चिमोत्तर भारत, तथा अफ़ग़ानिस्तान आदि में अपना राज्य स्थापित कर लिया। मध्य तथा उत्तर भारत में शिवाजी महाराज के उत्तराधिकारी पेशवाओं ने महाराष्ट्र का निर्माण किया।

यहां तक कि अन्ततः मुग़ल सम्राट् भी उनके संरक्षण में आ गया।

परन्तु इस उथल-पुथल के समय में डच, फ्रांसीसी, पुर्तगीज, और अंगरेज आदि योरपीय जातियों के साहसी व्यापारियों ने यहाँ आ-आकर अपने अड्डे जमा लिये, और अपनी चतुराई और विनयशीलता तथा इनसे भी बढ़ कर विभेदक-नीति से बहुत से आदमियों को अपनी तरफ़ मिला लिया, इससे उन उदीयमान शक्तियों को गहरा धक्का पहुँचा, और भारतीय इतिहास का स्वरूप ही बदल गया। ये पाश्चात्य जातिया पीछे अपनी पारस्परिक ईर्ष्या और प्रतिद्वन्दिता के कारण आपस में लड़ने लगीं, तो कुछ अदूरदर्शी भारतीयों ने उनमें से एक या दूसरे का पक्ष लिया, पर अपने राष्ट्रीय संगठन में योग न दिया। पाश्चात्य जातियों में अन्ततः अंगरेज़ों का पलड़ा भारी रहा। उनकी प्रत्येक विजय से उनका आगे का मार्ग प्रशस्त होता गया; एक अधीन भाग का जन धन दूसरे भाग को आधीन करने में सहायक हुआ। इस प्रकार भारतवासियों के सहयोग से, इन की तलवार और इन के ही पैसे से, अंग्रेज यहाँ अपनी प्रभुता स्थापित करने लगे। सन् १८०३ में उन्होंने दिल्ली और मुग़ल सम्राट् को अपने आधीन कर लिया। अब सम्राट् अंगरेजों की पेन्शन पाने वाला एक अशक्त व्यक्ति था, तथापि अंगरेज अपने आप को उसकी प्रजा मानते थे, और उससे अधिकार और सत्ता ग्रहण करते थे। अन्तिम मुग़ल सम्राटों में चाहे जो निर्बलता और दुर्गुण रहे हों,

यह बात नहीं भुलायी जा सकती कि उन्हों ने भारतवर्ष को अपना घर बना लिया था, और वे यहाँ किसी विदेशी सत्ता का अधिकार होना कदापि पसन्द नहीं करते थे। सन् १८५७ ई० की क्रान्ति में बहादुरशाह ने यथा-सम्भव भाग लिया। इसी अभियोग में, क्रान्ति असफल रह जाने पर, यह अभागा 'सम्राट्' कैदी के रूप मे रंगून भेजा गया। अगरेजों का शासन, कानून की दृष्टि से, यहाँ सन् १८५८ ई० से ही स्थापित हुआ है।

मुग़ल साम्राज्य की स्मृति स्थूल रूप से तो केवल कुछ इमारतों या इतिहास पृष्ठों में ही है, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से, उसकी छाप भारतीय-जीवन पर भली भाति मिलती है। यहा के त्योहार, रीति रस्म, कला-कौशल, भाषा, साहित्य, संस्कृति आदि उसका प्रबल प्रमाण हैं। यद्यपि मुग़ल सम्राटों का सम्बन्ध, भारतवर्ष से, सवा तीन सौ वर्ष से भी अधिक रहा, यह साम्राज्य दो सौ वर्ष के भीतर ही यौवनावस्था को पार करके वृद्धावस्था का अनुभव करने लग गया था। यह क्षय रोग से ग्रस्त हो चला था, पीछे तो निर्बलता बढ़ती ही गयी, अन्त में यह यथेष्ट प्रतीक्षा के पश्चात् मृत्यु को प्राप्त हुआ।

अब इस साम्राज्य के पतन पर विचार करें।

मुग़ल साम्राज्य की निर्बलता के मुख्य कारणों मे से एक यह था कि हिन्दू मुसलमानों की सभ्यता, धर्म और आचार व्यवहार में अन्तर था। अकबर ने यह बात ताड़ ली, और उसने यथा-सम्भव दोनों जातियों के आदमियों को एक-दूसरे के नजदीक लाने का प्रयत्न किया।

परन्तु उसका काम विशेष परिमाण पर होने भी न पाया कि उनकी नीति त्याग दी गयी। वास्तव में ऐसे कार्य में बहुत समय लगता है, सहसा एक-आध पीढ़ी में ही सफलता नहीं मिलती, सुदीर्घकाल तक धैर्य-पूर्वक काम करने की आवश्यकता होती है। फिर उस समय यहाँ की प्रधान और बहु-संख्यक हिन्दू जाति में उन गुणों का अभाव था, जिनसे भिन्न-भिन्न सभ्यता आदि का मिश्रण हुआ करता है। जो हिन्दू पूर्व-काल में उदारता-पूर्वक हूण शक आदि को अपने में, दूध में शक्कर की तरह, मिला चुके थे, इस समय स्पर्शास्पर्श के विचार में पड़े थे, और छुई-मुई की तरह 'यवन' या 'मलेच्छों' के संसर्ग से भयभीत और आशंकित थे।

अस्तु, हिन्दू और मुसलमान दोनों परस्पर मिलने में विफल रहे; यही नहीं, वे एक दूसरे के प्रति धार्मिक उदारता सहनशीलता आदि का परिचय न दे सके, इसके फलस्वरूप इनकी साम्राज्य-घातक पृथकता बनी रही, और औरङ्गजेब के समय में अनुकूलता पाकर भयङ्कर रूप से बढ़ गयी। औरङ्गजेब की शासन-नीति ने साम्राज्य को गहरा धक्का पहुँचाया। यद्यपि पीछे उसके कुछ उत्तराधिकारियों ने इस गलती को महसूस करके इसका परित्याग किया; और वे फिर अकबर की नीति के अनुसार व्यवहार करने लगे; परन्तु एक तो उनके नीति परिवर्तन से अस्थिरता का परिचय मिलता था; दूसरे, अब एक तीसरी शक्ति (अंगरेज़ों की) आ गयी थी, जिसके कारण उद्देश्य सफल नहीं हो सकता था।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि राजवंश में राज्याधिकार के लिए प्रतिस्पर्द्धा होना, आगे पीछे महाभारत के होने की सूचना होती है। हिन्दुओं में तो बड़े लड़के को उत्तराधिकारी माना जाता है, राजनीति एवं समाज-नीति दोनों उसका समर्थन करती हैं, प्राय. लोक-मत उसी के पक्ष में रहता है। पर मुसलमानों में यह बात नहीं है। बादशाह अपने 'वली-अहद' (उत्तराधिकारी) को नामज़द करे, यह नियम है। जिस किसी पर बादशाह की कृपा-दृष्टि होगी, उसे गद्दी का मालिक होने का अवसर मिल सकता है। बादशाह के लड़कों में इससे ईर्षा का भाव होता है। जिस लड़के को राजगद्दी से वंचित होने की आशंका हो, वह, बलवान होने की दशा में, अपने अधिकार के प्रश्न को तलवार से हल कराने का इच्छुक रहता है। इससे चारों ओर अशांति और गृह-कलह उपस्थित होता है।

मुसलमान बादशाहों के मरने पर ही नहीं, बहुधा उनके जीवन-काल में ही उनके वारिसों में आपस में वैमनस्य होता था। वे ईर्षा-पूर्वक इस बात का ध्यान रखते थे कि बादशाह किस पर अधिक कृपा-दृष्टि रखता है। इन वारिसों के झगड़ों में अमीरों और मुख्य राज्याधिकारियों के पृथक्-पृथक् दल बन जाते थे, और वे राज्य की शक्ति का क्षय होने में सहायक होते थे। उत्तराधिकारियों को समझा-बुझा कर सन्मार्ग पर लाने वाली कोई शक्ति या संस्था देश में न थी। प्रत्येक उत्तराधिकारी, सेना तथा

राज्य के ख़ास-ख़ास आदमियों को अपनी ओर मिलाने में ही अपनी कुशलता का परिचय देना चाहता था। कैसी शोचनीय स्थिति है! यदि बादशाह वृद्ध होता है, तो बजाय इसके कि उसके पुत्र उसकी सेवा-सुश्रुषा करें, वे इस चिन्ता में पड़ जाते हैं कि जैसे-बने इसके जीते-जी ही राज्य में हमारी धाक जम जाय, और हमारे राज्यारोहण में किसी प्रकार का संशय न रहे। बादशाह की बीमारी में भी उत्तराधिकारी उसकी मृत्यु के समय होने वाली स्थिति का विचार करते और अपने-अपने स्वार्थ-साधन में लग जाते हैं। औरंगज़ेब का, शाहजहां को उसके अन्तिम काल में क़ैद करके रखना, उक्त विचार-धाराओं तथा प्रथा के अनुरूप ही है; हा, वह बहुत मर्मान्तक है।

औरंगज़ेब के बाद साम्राज्य के उत्तराधिकारी प्रायः अपने पूर्वजों की कमाई पर मौज उड़ाने लगे, उन्होंने संयमी और कठोर जीवन का परित्याग कर दिया। हरम (महलों) में कई-कई रानिया और उनकी दासी और सखी आदि रहती थीं; उनके संसर्ग में राजकुमारों का जीवन सुकुमार, और विलासितामय हो जाना स्वाभाविक और अनिवार्य था; वे प्रायः आराम-तलब, कायर, आलसी, चरित्र-भ्रष्ट हो जाते थे; राजनीति, सैन्य-सचालन, राज्य-प्रबंध आदि की शिक्षा उन्हें मिलती न थी, और यदि प्रौढ़ावस्था में मिली भी, तो उसका पूर्व संस्कारों के कारण उतना प्रभाव नहीं हो सकता था। निकटवर्ती अन्य राज्यों की तो बात दूर

रही, उन्हें बहुधा अपने राज्य के भिन्न-भिन्न भागों की व्यवस्था का भी पूर्ण परिचय नहीं रहता था।

बादशाहों के वैभव और विलासिता की छाया सेना पर पड़ी। बादशाही सेना अब पूरे राजसी ठाठ से चलती थी। उसके साथ सेनापतियों के सब सुखों की सामग्री होती थी। खूब धूम-धाम लम्बे-चौड़े जलूस, और विशाल रूप वाले बाज़ार होते थे। यह बातें उस साम्राज्य के लिए और भी चिन्तनीय थीं, जिसे मराठों जैसी उठती हुई शक्ति का सामना करना था, जिनके सैनिक खुल्लमखुल्ला युद्ध नहीं करते थे; रूखा-सूखा भोजन खाते हुए, घोड़ों पर सवार झट एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंच जाते थे। मनसबदारी-प्रथा भी मुग़ल 'सेना की बड़ी निर्बलता थी। प्रत्येक जागीरदार या मनसबदार के लिए युद्ध के समय, निर्धारित संख्या के आदमी, साम्राज्य को सेवा के लिए रखने का नियम था, अथवा उनसे इतनी सेना भरती करने की आशा की जाती थी। बहुधा मनसबदारों के सैनिकों की संख्या उनके लिए सम्मान-सूचक रह जाती थी। वे इतने सैनिक नहीं रखते थे, वे केवल आवश्यकता के समय सैनिक शिक्षण से वंचित रंगरूट जैसे-तैसे इधर-उधर से संग्रह करके दिखा देते थे। इस दोष को दूर करने का समय-समय पर प्रयत्न किया गया, परन्तु यह प्रथा ही ऐसी थी कि अनुशासन और निरीक्षण में तनिक भी शिथिलता होने पर इससे होने वाला अनिष्ट स्वयं सिद्ध था।

मुग़ल साम्राज्य का अन्त हो गया; पर यह समझना आवश्यक है कि इसके ह्रास के कारण स्वयं इसी में उत्पन्न हो गये थे। अकबर की जिस उदार नीति ने इसे संजीवनी शक्ति प्रदान की थी, वह औरङ्गज़ेब के समय में न रही। उसी सम्राट् के सामने इस साम्राज्य में अराजकता तथा विद्रोह के लक्षण दिखायी देने लग गये थे। उसके मरने पर, निर्बल ऐयाश और आराम-तलब उत्तराधिकारी इस विशाल साम्राज्य के सूत्र-संचालन में असमर्थ रहे। जगह-जगह विद्रोह, और अराजकता हुई। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना होने लगी। बाह्य आक्रमणों से इसकी रही-सही शक्ति का विनाश हुआ दीखता है, परन्तु इसमें दूसरों की कूटनीति का भी कम भाग नहीं; और, इसके विपक्षियों को सफलता मिलने का कारण यही है कि यह भीतर-भीतर ही रोग-ग्रस्त था। अधिकारी वर्ग आलसी, निस्तेज़ और निरुद्यमी थे। यह साम्राज्य इतना रोगी होकर भी इतने समय तक जैसे-तैसे बना रहा, यह इसकी दृढ़ता का सूचक है। यह ग़नीमत है, आश्चर्य है। मरने में तो कोई आश्चर्य की बात ही नहीं।

आठवाँ अध्याय

चीन का मंगोल साम्राज्य

धन वैभव जहँ बढत, प्रजा छीजत तहँ जाई ।
नहिं मङ्गल तेहि भूमि, अमङ्गल नित नियराई ॥
कुमर और उमराव, बने बिगडे कछु नाहीं ।
फूक माहिं वे बनत, फूकही सों मिट जाहीं ॥
पै दृढ कृषक् समाज, देश को साचो गौरव ।
नाश भये इकबार, फेर नहिं उपजन सभव ॥

—श्रीधर पाठक

अब तक भारतवर्ष के साम्राज्यों की बात हुई । अब हम अन्य साम्राज्यों का विचार करेंगे। पहले एशिया महाद्वीप के ही कुछ साम्राज्यों का विषय लेते हैं। इनमे सबसे पहले हमारा ध्यान चीन के मंगोल साम्राज्य की ओर जाता है—चीन प्राचीनता, विशालता, सभ्यता और धर्म आदि में भारतवर्ष से बहुत मिलता है।

चीन की सस्कृति कैसी पुरानी है। कई बातों की खोज सब से पहले चीन में ही हुई; उनका आदिअन्वेषक होने के कारण, वह आज कल के 'सभ्य-शिरोमणि' राष्ट्रों का सिर नीचा कर रहा है। यह ठीक है कि जन साधारण उगते हुए सूर्य को नमस्कार करते हैं; उसके अस्ताचल जाते समय दर्शन करने वाले कम होते हैं। संसार में

सत्ता वालों में सभी गुणों का समावेश मान लिया जाता है। तथापि, चीन का जो अधूरा-सा इतिहास मिलता है, उससे भी अब कोई इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकता कि मुद्रण-यन्त्र (छापेखाने) के आविष्कार का श्रेय योरप वालों को कदापि नहीं है, चीन वाले उनसे सहस्रों वर्ष पूर्व इसमें सफल हो चुके थे। गोले-बारूद का प्रयोग तो वे इससे भी पूर्व कर चुके थे, और यदि उन्होंने इसे योरपियनों से पहले विध्वंसक कार्य में नहीं लगाया तो यह उनके लिए कोई अपयश की बात नहीं है। खगोल शास्त्र, आरोग्य शास्त्र, काव्य और मुद्रा शास्त्र (जिसमें कागज़ी सिक्के का भी विषय सम्मिलित है।) में भी चीनियों की प्रगति उन्हें गुरू-पद प्रदान करती है। उनकी बनायी विशाल प्राचीर (चार दिवारी) स्थूल दृष्टि वालों के लिए भी प्राचीनता का प्रमाण दे रही है। चीन की उत्तरी सीमा पर यह दीवार विदेशियों के आक्रमण से रक्षा करने के लिए ईसा की तीसरी सदी में बनायी गयी थी। पीछे यह कुछ बढ़ायी गयी। अब यह पन्द्रह सौ मील लम्बी, और तीस फ़ुट ऊंची है। इसकी मोटाई नीचे १५ से २५ फ़ुट तक है, और यह ऊपर १२ फ़ुट चौडी है। इसके दो-दो सौ गज के फासले पर चालीस फ़ुट ऊंचे बुर्ज या मीनार हैं। पहाड़ों, खदकों और जगलों के रास्ते बनायी हुई यह दिवार, चीन की अपने ढग की अनूठी कथा कह रही है।

इस दीवार के अतिरिक्त एक लम्बी चौडी नहर भी चीन की कीर्ति का बखान कर रही है। यह लगभग बारह सौ मील लम्बी है।

इसमें पानी की गहराई ७ से ११ फुट तक, और कभी-कभी १३ फुट तक रहती है, इसकी चौड़ाई प्राय. सौ फुट से अधिक है। ऐसा ख्याल किया जाता है कि इस नहर का प्राचीन भाग ई० पू० सन् ४८६ से बनाया गया था। पश्चात् इसकी मरम्मत तथा वृद्धि की गयी।

चीन का वृत्तान्त इतने सुदूर भूत काल तक विस्तृत है कि उसका प्रामाणिक रूप से क्रम-बद्ध विवेचन नहीं हो सका है। अतीत काल में जहा तक भी दृष्टि पहुँचती है, चीन वाले अपने वर्तमान भू-भाग में ही मिलते है, उनके कहीं बाहर से आकर बसने के समय का पता नहीं लगता। प्राचीन इतिहास लेखकों को वे आरम्भ में ही खेती करने तथा राज-सस्था का उपभोग करने वाले मिलते हैं। निदान, चीन वालों का इतिहास कब से प्रारम्भ होता है, कब उन्होंने खेती करना सीखा, और कब राजसंस्था की स्थापना की, यह कोई नहीं बताता। 'ऐनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के लेखानुसार, चीनवासी अपना प्रथम सम्राट् फू-टी को मानते हैं, जिसने पारिवारिक जीवन और सामाजिक व्यवस्था की नीव डाली। इसका समय वे ई० पू० २८५२ ई० से २७३८ तक के बीच में मानते हैं। इस प्रकार उनका इतिहास अब से लगभग पाच हजार वर्ष पहले तक का है। चीन में वंशों का नाम रखने की प्रथा संसार के अन्य बहुत से देशों की अपेक्षा पुरानी है। यहा का प्राचीन इतिहास-काल वंशों के ही आधार पर विभक्त है। समय समय पर यहा अनेक वंशों का शासन रहा। कितने ही राज्यों

का उदय और अस्त हुआ। किसी वंश के समय में साम्राज्य का विस्तार घटा, और किसी के समय में वह अलग-अलग टुकड़ों में बंट गया। कई बार की उथल-पुथल के बाद ईसा की सातवीं शताब्दी में चीन का भाग्य फिर चमका। मध्य-एशिया में इसका प्रभाव बढ़ चला। इसकी सीमा पूर्वी ईरान और केस्पियन सागर तक पहुँच गयी। साम्राज्य की ख्याति इस समय ऐसी बढ़ी-चढ़ी थी कि नेपाल, मगध, ईरान और कुस्तनतुनिया तक से राजदूत यहाँ सम्राट् के दरबार मे आते थे। इसी समय मुहम्मद साहब के दूत भी यहाँ आये और उनका अच्छा स्वागत किया गया। अस्तु, हमें तो इसके भी पाच सौ वर्ष बाद की स्थिति का विचार करना है।

बारहवीं शताब्दी के अन्त से, चीन के इतिहास में एक विशेष घटना-मूलक समय उपस्थित होता है। बात यह थी कि यद्यपि अब से कई शताब्दियों पूर्व इस देश की धाक मध्य-एशिया तक पहुँच चुकी थी, और इसका भारतवर्ष से धार्मिक सम्बन्ध हो गया था, पर अब यहाँ एक ऐसे वीर विजेता का आगमन हुआ, जिस के पराक्रम से मानों पृथ्वी कांपती थी, और एशिया के सुदूर पश्चिम तक के ही नहीं, पूर्वी योरप तक के अनेक राज्यों को राजनैतिक भूकम्प का अनुभव हुआ। इस समय पूर्वी एशिया में मगोल जाति के लोगों की शक्ति बढ रही थी।

स्मरण रहे कि मंगोल और मुग़ल एक ही जाति के नाम थे। इस प्रकार मंगोल वही जाति थी, जिसके वंशजों ने भारतवर्ष में मुग़ल

साम्राज्य स्थापित किया। हा, जिन मंगोलों का यहां उल्लेख किया जा रहा है, वे मुसलमान न थे। वास्तव मे, मंगोलों में एक बड़ा गुण यह था कि ये जहा रहते, वहां की भाषा, धर्म, संस्कृति आदि को अपना लेते थे। भारतवर्ष मे जो मंगोल (मुगल) आये, वे पहले ईरान (फारिस) में रहे थे, इस लिए वहां का धर्म (इसलाम) और वहा की भाषा (फारसी) ग्रहण कर चुके थे। चीन के मॅगोलो की भाषा और धर्म भिन्न प्रकार के थे। ये लोग पितृ-पूजा करते थे अर्थात् अपने पूर्वजों के (एवं सम्राटों के) पुजारी थे, ज़ो वीर-पूजा का रूप है। इनमें घोड़े की पूजा का भी चलन था, तथा बौद्ध धर्म को भी इन्होंने अपना रखा था।

मंगोल खानाबदोश और हृष्ट-पुष्ट थे। ये मैदानों मे, खेमों या डेरों में रहते थे। शहरों का रहन-सहन इन्हें पसन्द न था। इनका जीवन सादा था। सभ्यता या शौक़ीनी से ये दूर थे। ये मेहनती, और कष्ट सहन करने वाले थे। ये शिक्षित न थे। यह होते हुए भी इनमें सगठन-शक्ति विलक्षण थी। यही कारण है कि इनकी विजय अपने ढङ्ग की अनूठी और अद्वितीय रही।

सन् ११५५ ई० में मगोलों के एक सरदार के यहां एक लड़के का जन्म हुआ, जिसका नाम तिमूचीन या तेमूज़ीन था, परन्तु जो पीछे चंगेज़खा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वास्तव में खां, (खान) उसका पद था, जो उसे तातार देश के जीतने पर दिया गया था; इसका अर्थ है कि सब मनुष्यों का शासक, सम्राट् या

महाराजाधिराज। पिता का देहान्त इसकी अल्पावस्था में ही हो जाने से, इसे उसके अधीन आदमियों में शांति रखने तथा कई प्रतिद्वन्दियों से आत्म-रक्षा करने में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा; पर इससे इसे सेना-संग्रह, और युद्ध-विद्या का अच्छा अनुभव हो गया। फिर इसमें आत्म-विश्वास और दृढ़ता भी बहुत थी। ज्यों-ज्यों यह अपनी बाधाओं को दूर करने में सफल होता गया, इसकी महात्वाकांक्षा या मनसूबा बढता गया। पहले इसने विविध मंगोल जातियों को पराजित किया। फिर, सन् १२१२ ई० में उत्तरी चीन के किन साम्राट् पर धावा बोल दिया; पहली बार सफल न होने पर, अगले वर्ष यह दूने बल और उत्साह से, विशाल सेना लिए हुए, फिर आ धमका। कुछ समय तक लड़ते रह कर इसने उसके राज्य (उत्तरी चीन) का ख़ासा भाग ले लिया। इसका तथा इसके अनुयाइयों का यहा ऐसा प्रभुत्व हो गया कि अब चीन को मंगोल साम्राज्य का अंग माना जाने लगा।

यहा यह बात बहुत विचारणीय है कि इस समय चगेज ख़ा की उम्र ५८ वर्ष की हो गयी थी। ऐसी अवस्था में आदमी प्रायः आराम करने की सोचा करते हैं, उनमे साधारण श्रम करने की भी सामर्थ नहीं होती, फिर सैन्य-संचालन आदि की तो बात ही क्या! अधिकतर विजेताओं ने जो विजय प्राप्त की है, वह अपनी भरी जवानी में, तीस-चालीस वर्ष की उम्र के बीच में, की है। बाद में, यद्यपि उनमें अनुभव बढ़ जाता है, परन्तु अनुभव से

लाभ उठाने की क्षमता नहीं रहती। चंगेज़खां की यह विशेषता थी, कि अनुभव प्राप्त करते-करते वह अपने साहस और शक्ति को नहीं खो बैठा था, वह इनसे वंचित नहीं हो गया था। उसमें इन गुणों का विलक्षण मेल था।

चीन को जीत लेने के बाद सम्भव था कि वह अपने विजय के कार्य-क्रम से संतोष कर लेता। पर उसे अपने और भी अधिक पराक्रम का परिचय देने का अवसर मिल गया। इस समय खार-जम (पूर्वी इरान) का बादशाह मोहम्मद था। उसका राज्य भारत की पश्चिमोत्तर सीमा से लेकर बग़दाद तक फैला हुआ था। इस राज्य के एक प्रांत में मंगोल सौदागर मारे गये, और जब चंगेज़खां ने इस विषय का विचार कराने के लिए संदेश भेजा तो बादशाह ने इसके दूतों से भी दुर्व्यवहार किया। यह चंगेज़ के लिए असह्य था। उसने अच्छी तरह तैयारी करके अपनी फ़ौज के साथ पश्चिम को कूच कर दिया। कहते हैं कि चंगेज़खां उसके विरुद्ध दो तीन लाख (कुछ लेखकों के मत से, इससे भी अधिक) सैनिक, सहस्रों मील के ऊबड़-खाबड़ कंटकाकीर्ण मार्ग से ले गया, और बीच में पड़ने वाले राज्यों को रौंदते हुए, नगरों को जलाते हुए तथा जनता को अधीन या बन्दी करते हुए, अथवा मृत्यु के घाट उतारते हुए अन्ततः मोहम्मद के सामने जा डटा, और उसे परास्त कर डाला तथा उसका सब राज्य मंगोल साम्राज्य में मिला लिया। मोहम्मद के मरने के बाद उसका

पुत्र जलालुद्दीन भारतवर्ष भाग आया तो यहा भी चंगेज़खा की सेना ने उसका पीछा किया। इस प्रकार मगोलों ने मुलतान और सिन्ध तक भारतवर्ष में भी प्रवेश किया। हा, इससे आगे वे न बढ़े।*

चंगेज़ अब उत्तर में रूस की ओर बढ़ा। यहा भी उसने विजय प्राप्त की। हारना तो उसने सीखा ही न था। किन्तु इस समय उसे पूर्व की ओर सुव्यवस्था करने के लिए लौट आना पड़ा। सन् १२२७ ई० में, बहत्तर वर्ष की उम्र में उसका देहान्त हो गया। उसका साम्राज्य पश्चिम में काले सागर से लेकर पूर्व में प्रशान्त महासागर तक फैला हुआ है। कितना विशाल था यह साम्राज्य! और, एक ही पीढ़ी में, एक ही व्यक्ति द्वारा स्थापित किया हुआ! यह हिसाब लगाया गया है कि उसके राज्य की लम्बाई पाच हज़ार और चौड़ाई तीन हज़ार मील तक थी। इस प्रकार यह एशियाई शक्ति अपने विस्तार में योरप के अभिमान सिकन्दर, सीज़र, और नेपोलियन के साम्राज्यों से बढ़ कर थी।

चगेज़खा विशेषतया अपनी क्रूरता, नृशंसता, और निर्दयता आदि के कारण स्मरण किया जाता है, और इतिहास मे प्रायः उसे

*इसके लगभग पौने दो सौ वर्ष बाद तैमूर ने सन् १३९८ में भारतवर्ष पर आक्रमण किया। वह चगेजखा के ही वश का था। आक्रमण के समय उसकी उम्र साठ वर्ष से अधिक थी। वह दिल्ली तक आया था। उसके वशज बाबर ने सन् १५२६ में, भारतवर्ष में मुगल साम्राज्य की स्थापना की।

'प्रचंड नर-संहारक' या 'दैवी विपत्ति' की उपाधि दी जाती है। अधि-काश विजेता और साम्राज्य-सस्थापकों मे ऐसे दुर्गुण थोड़े-बहुत होते ही हैं। फिर चगेज़खा के विषय मे अभी पूरा प्रामाणिक इतिहास प्रकाश में नहीं आया है। सम्भव है भविष्य में, उसके विषय मे इस समय की धारणा भ्रम-मूलक सिद्ध हो, और वह संसार के कम-से-कम औसत दर्जे के गुण वाले विश्व-विजेताओं की बराबरी कर सके। यह तो अब भी मान्य है कि उसमें धार्मिक विद्वेष या कट्टरता नहीं थी, वह चोरी और व्यभिचार को घोर दडनीय मानता था। उसने अपने साम्राज्य के विविध भागों में आमोदरफ़्त सुगम करने के लिए बहुत सी सड़कें बनवाईं, तथा उसने बहुत-कुछ असभ्य, विभिन्न और बिखरे हुए आदमियों की विशाल सेना एकत्र करने तथा उसे कवायद और अनुशासन सिखाने में एक अद्भुत् लोकनायक और सगठन-कर्ता के गुणों का परिचय दिया है। सुप्रसिद्ध यात्री मार्को पोलो के कथनानुसार तो चंगेज़ खाँ जब किसी प्रान्त को जीतता था, तो वह उसकी प्रजा या सम्पत्ति को कोई हानि नहीं पहुंचाता था, वरन् वहाँ अपने कुछ आदमी रख कर आगे अन्य प्रान्तों को विजय करने में लग जाता था। उसके पराजित प्रदेशों के निवासी उसके शासन और सुव्यवस्था से प्रसन्न होकर उसके अनुयायी बन जाते थे।

चंगेज़ पढ़ा-लिखा न था, उसके सरदार भी अपढ़ थे। एक स्थान से दूसरे स्थान पर संदेश ज़बानी भेजे जाते थे। यह स्थिति आश्चर्य-

जनक है। इतने विशाल साम्राज्य का संचालन, आमोदरफ़्त के साधनों की कमी, और इस पर संदेश भी जबानी भेजा जाना! कैसे काम चलता होगा! पर चंगेज़ ने काम चलाया, और खूब चलाया। पीछे जब उसे मालूम हुआ कि लिखने जैसी कोई चीज़ होती है तो उसने अपने पुत्रों और सरदारों को इसे सीखने का आदेश किया। आज कल मामूली अधिकारी भी कितने ठाठ-बाट से रहते हैं! पर चंगेज़ इतने बड़े साम्राज्य का कर्ता-धर्ता था, तो भी इसकी राजधानी किसी बड़े शहर में न होकर मंगोलिया के एक मामूली से कस्बे में थी, जिसका नाम कराकुरम था।

चंगेज़ की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र उगताई 'खान' बना। यह अपने पिता तथा उस समय के साधारण मंगोलों की अपेक्षा शान्ति-प्रिय था। उसने सुग वंश के अधिकारियों से मेल करके उत्तर चीन के सम्राट् 'किन' को परास्त कर दिया। पीछे उसका सुंग लोगों से युद्ध ठन गया। सन् १२४१ में उगताई का देहान्त हो गया, तब उसके उत्तराधिकारियों ने युद्ध जारी रखा। अन्ततः कुबलाई खाँ ने सुंग राज्य को अधिकृत कर लिया। कुबलाई ने पीछे जापान, तिब्बत, टांगकिंग और कोचीन चाइना पर धावा किया। यह सन् १२५९ में गद्दी पर बैठा, और १२८० में इसने चीन के सम्राट् के सब अधिकार ग्रहण कर लिये। यह चीन में बहुत समय रह चुका था, और इसे यह देश पसन्द था। यहाँ इसकी बनवाई हुई राजधानी पीछे पेकिंग के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसकी प्रभुता चीन और मध्य-एशिया के

अतिरिक्त जापान, मलाया, और तिब्बत में, तथा योरप में रूस, हंगरी और पोलैंड तक मानी जाती थी।

मंगोल साम्राज्य की कैसी धाक थी! मंगोलिया या चीन से फ्रांस कितनी दूर है! और वहा का बादशाह लूई मंगोलो से दोस्ती करना चाहता है, जिससे इसलामी शक्तियों का सामना किया जा सके। परन्तु मंगोलों को ऐसी दोस्ती की कोई ज़रूरत नहीं। ये किसी जाति से धर्म के आधार पर लड़ना पसन्द नहीं करते। इन्हें न ईसाई शक्ति का भय है, और न मुसलमान का। संयोग से पश्चिमी योरप इनके आधीन होने से रह गया, सेलजुक तुर्क तो इनका प्रभुत्व मानते ही थे। मंगोल चाहते तो पश्चिम योरप को सहज ही अपने अधीन कर सकते थे। एशिया और योरप भर मे मंगोलों का आतंक था। जो देश स्वतन्त्र रह गये थे, वे अपनी ख़ैर मनाते थे, और इस चिन्ता में निमग्न थे कि न-मालूम मंगोलों का धावा कब उन पर हो जाय। तेरहवीं सदी में लोगों को ऐसा मालूम होता था कि मंगोल दुनिया भर मे अपना शासन स्थापित करने के लिए जन्मे हैं।

कुबलाई ख़ा सन् १२९२ ई० में मरा। इतने बड़े साम्राज्य को संभालना बहुत मुश्किल काम था। यह क्रमशः विभक्त और क्षीण होता गया। अगले शासक निर्बल और अयोग्य प्रमाणित हुए। जगह-जगह विद्रोह होने लगे। अंत में मंगोल सम्राट् चीन

के एक मज़दूर पुत्र चू-युआनचंग के सामने पीठ दिखा कर भाग गया। इस प्रकार मगोल साम्राज्य का अंत हो गया।

मंगोलों को अपना प्राचीन वैभव अभी तक याद है, वे अपनी जहां-तहां फैली हुई जाति का एक सुसंगठित राष्ट्र बनाने के इच्छुक हैं। चगेज़ खा ने जो विजय-पताका फहरायी थी, वह उसके वंशजों को बार-म्बार स्फूर्ति प्रदान करती है, और वे यथा-सम्भव उसका दृश्य पुनः संसार के सामने प्रस्तुत करने का स्वप्न देख रहे हैं। अस्तु, हमें तो अब यही विचार करना है कि मंगोल साम्राज्य का अन्त कैसे हुआ।

यह स्पष्ट है कि यह एक सैनिक साम्राज्य था। ऐसे साम्राज्य का बल उसकी विशाल और शक्तिशाली सेना के अतिरिक्त शूरवीर, साहसी और पराक्रमी सेना नायक होता है। किन्तु एक सम्राट् के बाद आने वाला दूसरा सम्राट् सदैव चंगोज खा या कुब्लाई खा के समान नहीं होता। असमर्थ शासकों के पदारुढ़ होने की दशा में तो निर्बल जातिया भी सिर उठाती हैं, और इस बात का प्रयत्न करती हैं कि उनकी भूमि पर दूसरों का अधिकार न रहे। कभी-कभी तो उनमें आश्चर्यजनक उत्साह और उमंग आजाती है। वे जी तोड़ कर लड़ती हैं; रण-क्षेत्र में मरना या मारना ही अपना धर्म समझती हैं। कभी-कभी तो स्त्रिया भी स्वातंत्र्य-रक्षा के लिए सहर्ष बलिदान हो जाती हैं। इस प्रकार अधीन जातियां पूरे बल से, अपने कंधो पर से साम्राज्य का जुआ फेंकने लगती हैं। निदान, सैनिक साम्राज्य की

स्थिरता बहुत-कुछ सामर्थ्यवान प्रबल सूत्रधारों पर निर्भर रहती है। ऊपर यह बताया जा चुका है कि कुबलाई खा के बाद इस साम्राज्य के शासक निर्बल थे। स्वयं कुबलाई में, अपने पूर्वाधिकारियों की अपेक्षा बहुत परिवर्तन हो गया था। उसमें खानाबदोशी नहीं रही थी, वह नगर का जीवन पसन्द करने वाला हो गया था। वह चीन के मामलों में लगा रहता (यहा उसने पेकिंग शहर मे राजधानी बनवाई थी), उसने अपने विशाल साम्राज्य को ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि उसके कितने ही सूबेदारों मे स्वाधीन होने की भावना पैदा हो गयी। फिर, यद्यपि कुछ मंगोल शासकों ने चीनियों से बराबरी का सा व्यवहार किया, चीन वाले उन्हें विदेशी ही मानते रहे, और उन्हें हटाने के लिए गुप्त समितियाँ बना कर, विविध प्रयत्न करते रहे। क्रमशः साम्राज्य के भिन्न-भिन्न भाग एक-दूसरे से पृथक् और स्वतंत्र होते गये। साम्राज्य का अंग-भंग होना तो अन्ततः उसकी मृत्यु का ही लक्षण होता है और वह हुआ।

साम्राज्य इतना बड़ा था, और यात्रा के लिए साधनों की कमी थी। आदमी या तो घोड़े पर जाते थे, या पैदल। इस प्रकार साम्राज्य के एक सिरे से दूसरे सिरे तक जाना-आना महीनों को काम था, इसमें प्रायः पूरा वर्ष भर ही समाप्त हो जाता था। यह काम काफी मेहनत और कष्ट का था। इधर लूट, लड़ाई और विजय के कारण शासकों या सरदारों के पास पैसा हो गया था, उनमें अमीरी के साथ विलासिता आगयी थी। मेहनत का काम स्वयं न कर, अपने नौकरों

या गुलामों से कराने की आदत हो गयी थी। शासकों, अधिकारियों या सरदारों के ऐश्वर्य और विलासिता की गाड़ी खैंचने वाले किसान और मज़दूर होते हैं। इस गाड़ी का सामान बढ़ने का अर्थ सर्व-साधारण पर निर्धनता का भार बढ़ना होता है। भार, एक सीमा से बढ़ जाने पर, खैंचने वालों की कमर तोड़ने वाला बन जाता है। फिर, मंगोलों ने चीन की सभ्यता स्वीकार करली थी, इससे उनकी सैनिक मनोवृत्ति और शक्ति का बहुत ह्रास हो गया। सभ्यता के ऐसे परिणाम का अनुभव इतिहास में बारबार दृष्टि-गोचर हुआ है। अस्तु, निर्बल, अयोग्य और विलासी, हा, 'सभ्य' शासकों द्वारा इस साम्राज्य की रक्षा कब तक होती! उसका पतन आवश्यक था, अनिवार्य था।

नवाँ अध्याय

ईरानी साम्राज्य

जिन के महलों में हजारों रंग के फानूस थे ।
झाड़ उनकी कब्र पर हैं, और निशा कुछ भी नहीं ॥
जिनके टके की सदा से गूँजते थे आस्मा ।
मकबरों में दम बखुद हैं, है निहा कुछ भी नहीं ॥

—बेया

बहुत समय हुआ, इस देश का नाम तक बदल गया था, इसे 'फारिस' कहा जाने लगा था। पिछले दिनों यहाँ के बादशाह रजाशाह पहलवी ने यह घोषणा की कि इसके प्राचीन नाम 'ईरान' का उपयोग किया जाय। बात यह है कि इस देश की संस्कृति और सभ्यता इस प्राचीन नाम से ही अच्छी तरह व्यक्त होती है। 'ईरान' शब्द 'आर्याना' से बना है, जिसका अर्थ है 'आर्यों की भूमि'। इस नाम के साथ लोगों को परम्परागत प्रेम है, इसमें वे गौरव और अभिमान का अनुभव करते हैं। ये बातें 'फारिस' नाम में कहा! 'फारिस' शब्द परसू से बना है, जो इस देश का एक प्रान्त है।

ईरान की कथा काफी लम्बी है, पर हम बहुत पुरानी बातों को छोड़ देते हैं। हमारे लिए यही जानना आवश्यक है कि ईसा से सहस्रों

वर्ष पहले पश्चिमी एशिया में समय-समय पर क्रमशः बेबिलोनिया असुरिया (असीरिया) और मादे (मीडिया) इन तीन साम्राज्यों की स्थापना हो गयी थी। इन में से प्रत्येक अपनी परिस्थिति या अवसर के अनुसार दूसरे को नीचा दिखाने, तथा अपनी शक्ति बढ़ाने, की कोशिश में था। आखिर मादे को सफलता मिली।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में, एक नयी शक्ति का उदय हो जाने से, मादे भी पीछे रह गया। इस शक्ति का केन्द्र दक्षिण-ईरान था। यहा का पहला प्रसिद्ध पुरुष कुरू (साइरस) कहा जा सकता है। यह ईरान और बेबिलोनिया के बीच के एक पहाड़ी राज्य का राजकुमार था। इसने पहले मादे के प्रधान शासक से कई लड़ाइयाँ लड़कर, उसके अधिकारियों तथा अधीन राज्यों पर अपनी प्रभुता स्थापित की। फिर वह मादे और एलम का बादशाह बना। इस प्रकार ई० पू० सन् ५५० में इस नये साम्राज्य की नींव पड़ी। इसका श्रेय जैसा कुरू की वीरता तथा सैन्य-सचालन को है, वैसा ही मीड लोगों की निर्बलता को है। बहुत समय से उन्हें सैनिक शिक्षण नहीं मिला था, उनका शासक न केवल वृद्ध था, वरन् नाज़ुक बदन और आरामतलब भी था। उधर ईरानी सिपाही साहसी और पराक्रमी थे। प्रोफेसर रौलिनसन का मत है कि मीड साम्राज्य के पतन का तात्कालिक कारण ईरानी राजकुमार की प्रतिभा थी, परन्तु इसके विनाश की तैयारी पहले से हो चुकी थी, इसका अन्त मीड सम्राट् की अदूरदर्शिता से हुआ। अब ईरान बेबीलोनिया की बराबरी कर सकता था।

अनुसधान से ज्ञात हुआ है कि कुरू को अपनी विजय में भारत-वर्ष के सिन्धु प्रदेश के राजा से भी बड़ी सहायता मिली थी, और इसी से वह सफल मनोरथ हुआ। कुरू का दूसरा युद्ध लीडिया के धनी और महान साम्राज्य के विरुद्ध हुआ। लीडिया का राजा कारूँ एक धनवान व्यापारी जाति पर राज्य करता था, जो लघु-एशिया के पश्चिमी भाग में थी, उसके अधीन ईजियन सागर और भू-मध्य सागर के तटवर्ती बंदरगाह थे। उसके राज्य में बहुमूल्य धातुओं और व्यापारी माल की बहुतायत थी, पर वह विलासिता में डूब गया था। उसके धन सम्पति पर कुरू का मन चलायमान हो गया, और उसने ऊँटों, घुड़सवारों और प्यादों की बड़ी-बड़ी पलटनों से उस की मशहूर राजधानी सार्डिस पर धावा बोल दिया। बहुत समय तक भयंकर युद्ध हुआ। इतिहास-लेखक हीरोदत्त (हिरोडीटस) का कथन है कि कुरू ने बुद्धिमत्ता-पूर्वक अपनी सेना मे सबसे आगे ऊंटो को रखा। इसका कारण यह है कि घोड़ों को उनकी आकृति एव गंध से बड़ी अरुचि होती है। लीडिया के घोड़े ऊंटों की वजह से भाग निकले, यद्यपि उनके सवारों ने प्यादों के रूप में अच्छी वीरता का परिचय दिया। अस्तु, अन्तत; दोनों ओर खूब खून-खच्चर होने पर कारूँ बन्दी कर लिया गया, और कुरू उसके साम्राज्य का स्वामी हो गया।

क्रमशः आयोनिया (यूनान) ने, तथा इजियन सागर के किनारे के उपनिवेशों ने भी कुरू की अधीनता स्वीकार कर ली। कुरू ने पूर्व की ओर भी विजय प्राप्त की। एंडरसन का कथन है कि यह पूर्व में उस

समय तक विजय करता रहा, जब तक कि अफ़गानिस्तान, सिन्धु नदी की ऊपरी घाटियों, और बिलोचिस्तान ने ईरान की प्रभुता स्वीकार न कर ली। अस्तु, इसके बाद ई० पू० सन् ५३९ में उसने प्राचीन असुरिया (असीरिया) साम्राज्य के खंडहरों पर स्थापित बेबिलोनिया पर अधिकार करने की ठानी। बेबिलोनिया के सम्राट् नबोनिडास को ऐतिहासिक शोध में बहुत रुचि थी। उसने अपने साम्राज्य की चिन्ता न कर पुराने खंडहरों, मन्दिरों और देवताओं का ध्यान रखा। जब कुरू उस के प्रान्तों को अपने अधिकार में ला रहा था, तब यह सम्राट् भिन्न-भिन्न स्थानों से देव-मूर्त्तियाँ मगा कर बेबिलोनिया में स्थापित कर रहा था। उसे आशा थी कि ये देवता उसकी रक्षा करेंगे। पर इस प्रकार रक्षा नहीं हुआ करती। बहुत समय तक लड़ाई के उतार-चढ़ाव और दाव-पेच का अनुभव हुआ। अन्त में कुरू ने बेबिलोनिया को तथा उसकी हकूमत मानने वाले अन्य राज्यों, विशेषतया शाम (सीरिया), फलिस्तीन और फीनीशिया (फोनेशिया) पर अधिकार कर लिया।

कुरू 'महान' का एक विशेष गुण यह था कि यह सब धर्मों के प्रति सहनशीलता का भाव रखता था। इसने अपने जीते हुए देशों के मन्दिरों या मूर्तियों को कोई नुकसान नहीं पहुँचाया। इसके पहले सम्राटों ने जिन लोगों की देव-मूर्तिया अपनी राजधानी में मँगवायी थी, उनको इसने उदारता-पूर्वक वापिस लौटा दिया। यहूदियों पर, पहले पर अनेक धार्मिक अत्याचार हुए थे, उन्हें इसके शासन में शान्ति और संतोष मिला। उन्हें इस बात से बड़ी प्रसन्नता हुई

कि इसने जेरूसलम के लिए उनकी जाति के ही शासक को नियुक्ति कर दी।

कुरू के पुत्र कम्बोजी (केम्बीसेस) ने भी अपने पिता की भांति विजेता के रूप में ख्याति प्राप्त करनी चाही। वह महत्वाकांक्षी था। वह धनी प्रदेशों का आधिपति था, उसके पास अतुल सम्पत्ति और साधन थे। फलतः उसने मिश्र पर आक्रमण करने की सोची, और उसके लिए इस बात का आधार लिया कि जबकि उसका पिता लीडिया से लड़ रहा था तो मिश्र वालों ने लिडिया की सहायता की थी। निदान, कम्बोजी ने ईसा पूर्व सन् ५२५ में मिश्र पर चढ़ाई करके, उसके बादशाह पेरो (फैराओ) को परास्त कर दिया। उसने मेंफी में शर्तें ठहराने के लिए दूता भेजा, मिश्रवालों ने जहाज को नष्ट करके उसके सब आदमियों को मार डाला। इस पर मिश्र की राजधानी पर घेरा डाला गया, उस पर शीघ्र ही ईरानियों का अधिकार हो गया। फिर कम्बोजी ने, बड़ी निर्दयता-पूर्वक, अपने दूत और उसके साथियों के मारे जाने का बदला लिया। परन्तु उस ने इथियोपिया पर चढ़ाई करके अपनी शक्ति का बहुत ह्रास कर डाला। रेगिस्तान में सेना को खाने-पीने को न मिला, और आंधी-तुफान से उसकी भयंकर क्षति हुई। इससे कम्बोजी बहुत विक्षिप्त सा हो गया; इस समय उसने सुना कि ईरान में कोई आदमी उसके भाई का नाम धारण कर राज्याधिकारी बन रहा है। वह बड़ी जल्दी में लौटने लगा, और शाम (सीरिया) के एक गांव में दुःख-पूर्वक मर गया।

इस प्रकार कुरू और उसके पुत्र कम्बोजी के समय में पश्चिमी एशिया के चार साम्राज्य मादे, लिडिया, असुरिया, और बेबिलोनिया, तथा अफ्रीका का एक मात्र साम्राज्य मिश्र, कुल मिलाकर पाच साम्राज्यों का पतन होकर ईरानी साम्राज्य का निर्माण हुआ। कम्बोजी के बाद इस साम्राज्य का उत्तराधिकारी सुप्रसिद्ध दारा हुआ। यह कुरू के वंश के यस्ताश्प (हिस्टास्पीज) का पुत्र था, और कुरू की लड़की से विवाह कर लेने के कारण, यह उस ईरानी साम्राज्य के महान संस्थापक का दामाद भी था। दारा ने मादे, बेबिलोनिया और स्वय ईरान के विद्रोहों का दमन किया, और साम्राज्य को बनाये रखने में बड़ी वीरता का परिचय दिया।

स्मरण रहे कि दारा का साम्राज्य कुछ ऐसा वैसा न था। यह सिन्धु नदी से लेकर ठेठ लघु-एशिया तक फैला हुआ था। मिश्र, तथा लघु-एशिया के कुछ यूनानी नगर इसके साम्राज्य में सम्मिलित थे। परन्तु मनुष्य की वासनाओं की कभी तृप्ति नहीं होती। विजेताओं को कुछ-न-कुछ जीतने की इच्छा बनी ही रहती है। दारा की, (पूर्वी) योरप को जीतने की महत्वाकाक्षा थी, जैसे कि कुरू की एशिया को, और कम्बोजी की अफरीका को जीतने की थी। योरप के पूर्वी तथा पूर्वोत्तर भाग में कुछ समय से शक (सीदियन) और अन्य लड़ाकू जातियों का ज़ोर था। दारा ने अपनी सेना से थ्रेस पर धावा किया; डेन्यूब नदी का पुल बनवा कर वह उसके पार पहुँच गया। दारा की शक्ति से प्रभावित शक आदि पीछे

हटते गये। पर दारा की सेना भी उनका पीछा करने तथा अपना बचाव करने में काफ़ी थक गयी थी। कितने ही आदमी मर भी गये थे। अस्तु, जब दारा नीपर नदी के निकट था, उसने शक नरेश के पास चुनौती भेजी। परन्तु शक सेनापति ने भी बड़ी चतुराई से जवाब दिया कि 'जब तक हमारी इच्छा न होगी, हम तुमसे लड़ाई न लड़ेंगे; और, प्रभुत्व तो मैं स्वर्ग के बादशाह, और शक देवी वेष्टा के अतिरिक्त और किसी का नहीं मानता।' दारा ने उससे कहा था कि अधीनता स्वीकार करने के चिन्ह-स्वरूप तुम मिट्टी और जल मेरे पास भेजो। परन्तु इसके बजाय दारा के पास एक पक्षी, एक चूहा, एक मेंढक और पाच तीर भेजे गये। ईरानी युद्ध समिति इस पर बहुत चकित हुई, और उसने इन चार चीजों का सभावित अर्थ यह निकाला कि 'पक्षी बन कर आकाश में उड़ जाओ या चूहों की तरह बिलों में घुस जाओ, या मेंढकों की तरह दलदल में फसो। अन्यथा तुम्हें हमारे तीरों का निशाना बन कर प्राण गँवाने पड़ेंगे।' अन्ततः जब दारा को यह ज्ञात हुआ कि इन भू-भागों में भयंकर सर्दी पड़ती है और उसे इस बात की भी आशंका जान पड़ी कि कहीं शक डेन्यूब नदी का पुल न तोड़ डालें, तो वह लौट आया; पीछे उसने पुल तुड़वा दिया।

यद्यपि दारा को इस घटना से बहुत कष्ट और क्षति हुई, वह हिम्मत हारने वाला न था। उसे अपनी सैनिक और द्रव्य शक्ति का भरोसा था, और साम्राज्य-विस्तार में वह इसका खूब उपयोग करता

चाहता था। निदान, उसने यूनान पर इतिहास प्रसिद्ध-धावा किया। इस समय यूनान में एक सुप्रसिद्ध राज्य एथन्स था। यहा के निवासियों ने बहुत राजनैतिक उन्नति की थी। ये अपने स्वेच्छाचारी अधिकारियों ('टायरेंटों') के शासन से मुक्त हो गये थे, और सब स्फूर्ति, उत्साह, वीरता तथा त्याग के भावों से युक्त थे। एथन्स के विरुद्ध ईरानी सेना ईसा पूर्व सन् ४९० में भेजी गयी। यह संख्या में महान थी, पर अनुशासन और देश-भक्ति में एथन्स वाले अधिक थे; उन्होंने इनको मेरेथन की लड़ाई में परास्त कर दिया।

कहा जाता है कि दारा ने अपने प्रसिद्ध सेनापति शाइलेक्स की अध्यक्षता में एक जहाजी बेड़ा सिन्ध नदी तक भेजा और पश्चिमी पंजाब का कुछ भाग अपने साम्राज्य में मिला लेने में सफलता प्राप्त की।

अपने शासन-काल के अन्तिम पांच वर्ष दारा ने साम्राज्य को सुसंगठित और उन्नत करने का अच्छा प्रयत्न किया। उसने कानूनों तथा राज-धर्म में सुधार किया, साहित्य और कला को प्रोत्साहित किया। उसने राज्य के भिन्न-भिन्न भागों के शासन के लिए 'शत्रप' पदाधिकारियों की नियुक्ति की। उसके समय के बने हुए विशाल महल, और मकबरे आदि ईरान की निर्माण कला सबन्धी सुरुचि के सुन्दर प्रमाण हैं। छत्तीस वर्ष राज्य करके यह सम्राट् ई० पू० सन् ४८६ में मृत्यु को प्राप्त हुआ।

फारसी भाषा के सुप्रसिद्ध महाकवि फिरदौसी ने 'शाहनामा' नामक महाकाव्य में फारिस के अन्यान्य बादशाहों में दारा की भी

लड़ाइयों का वृत्तान्त लिख कर उस समय की बातों को चिरस्मरणीय बना दिया है। इस समय भी अनेक स्थानों में फ़ारसी भाषा के विद्यार्थी और जानकार इस ग्रन्थ को बड़े चाव से पढ़ते हैं।

मेरेथान की लड़ाई के दस वर्ष बाद, ई० पू० सन् ४८० में दारा का पुत्र सम्राट् जर्कसीज खूब भारी-भरकम सेना लेकर स्थूल मार्ग से यूनान पर चढ़ आया। उसने कई यूनानी उपनिवेशों, और यूनान के भी कुछ भागों पर अधिकार जमाने में कुछ सफलता प्राप्त की, परन्तु एथन्स, स्पार्टा तथा कुछ अन्य यूनानी नगर-राज्यों ने मिल कर उसका खूब सामना किया, और अन्तत: जैसा कि यूनान के प्रसंग में बताया गया है, उन्होंने उसे पूर्णत. परास्त कर डाला। जर्कसीज को लौटना पड़ा। अगले वर्ष स्पार्टा आदि ने उसके सरदार मारडोनियस को हरा दिया। यद्यपि यह युद्ध कुछ वर्ष तक चलता रहा, ईरान ने फिर कभी यूनान (एवं योरप) पर आक्रमण करने का साहस न किया। एशिया में भी ईरान वालों की पराजय रही।

जर्कसीज के पुत्र आर्त-जर्कसीज ने मिश्र पर पुनः आधिपत्य स्थापित किया, किन्तु उसने ईरानी साम्राज्य के उस पतन को रोकने का कोई उपाय न किया, जो दारा के शासन-काल में ही आरम्भ हो गया था। आने वाले समय में साम्राज्य का ह्रास अधिकाधिक प्रकट होने लगा। राजवंश में कलह और फूट थी। इधर मकदूनिया का फ़िलिप पश्चिमी एशिया पर धावा करने के मनसूबे बांध रहा था। उसका वध हो जाने से एक बार तो यह आशंका होने लगी थी कि

उसका पुत्र सिकन्दर उसके यूनान के राज्य को भी संभाल सकेगा या नहीं। परन्तु सिकन्दर ने निश्चय किया कि न केवल यूनान में ही शक्ति संगठित रहनी चाहिए, वरन् उसके पिता के एशिया-विजय के संकल्प को भी पूरा किया जाना चाहिए।

ई० पू० सन् ३३४ में सिकन्दर ने एशिया पर आक्रमण करना आरम्भ किया। उसे विजय पर विजय होती गयी। ईरानी साम्राज्य की सबसे पश्चिमी राजधानी सार्डिस ने विजेता के लिए अपना फाटक खोल कर उसका हार्दिक स्वागत किया। जब सिकन्दर शाम (सीरिया) की सीमा पर पहुँचा तो ईरानी सेना ने उसका सामना किया। ईरानी सेना बहुत बड़ी थी, परन्तु संगठित न होने के कारण वह सफल न हुई। यूनानी सेना ने फीनीशिया को हरा कर दजला-फुरात (यूफ्रेटीज़-टाइग्रीस) घाटी पार की। अब ईरानियों ने असुरिया (एसीरिया) की पुरानी राजधानी निनेवा के पूर्व में उसका सामना किया, यहाँ भी इनकी पराजय ही हुई। सार्डिस की भांति अन्य कई ईरानी राजधानियां—बेबिलन, सूसा, परसेपोली और एकबटाना—भी अपने धन सम्पत्ति सहित सिकन्दर के हाथ आ गयीं। कुरू का अन्तिम वंशज बेक्ट्रिया में, उस प्रान्त के अधिकारी द्वारा मारा गया। इस प्रकार ईरान के साम्राज्य और ईरानी सम्राटों का अन्त हो गया।

परन्तु इसके साढ़े पांच सौ वर्ष बाद एक बार फिर ईरानी साम्राज्य की स्थापना हुई। उसकी भी चर्चा कर ली जाय।

सिकन्दर के मरने पर हिन्दुस्थान की पश्चिमी सीमा से लेकर लघु-एशिया तक उसके सेनापतियों तथा वंशजों का राज्य हो गया। उनकी हकूमत लगभग तीन सौ वर्ष रही। पश्चात् मध्य एशिया की 'पार्थी' नामक खानाबदोश जाति ने उन्हें हटा कर मादे के पूर्व में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया, जिसे पार्थिया कहा जाने लगा। उसकी राजधानी आधुनिक तेहरान के निकट थी, पर जब उनका राज्य पश्चिम में बढ़ चला तो उसका मुख्य नगर टेसीफन हो गया—यह बगदाद से पन्द्रह मील दक्षिण-पूर्व में था। इस राज्य के सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि शक्तिशाली रोम साम्राज्य भी इस पर अधिकार न कर सका। रोम के सेनापति इसे जीतने के इरादे से आये, पर हार कर, और कई बार अपमानित होकर लौटे। असुरिया, मेसोपोटेमिया आदि पश्चिमी एशिया के कई राज्यों पर पार्थिया का ही अधिपत्य रहा।

यद्यपि पार्थिया निवासियों ने क्रमशः ईरानी भाषा और भेष ग्रहण किया, ईरानी उन्हें अपने से पृथक् ही मानते रहे। इन दोनों जातियों का सम्मिश्रण नहीं हो पाया, कुछ विरोध चलता ही रहा। अन्ततः सन् २२६ ई० में ईरानियों ने इन पर अपनी प्रभुता प्राप्त की और यहां दूसरा ईरानी साम्राज्य स्थापित किया। ईरानियों के इस राजवंश को सासानी वंश कहा जाता है। इस वंश के प्राथमिक अधिकारियों ने ज़रदुश्त-धर्म को राज-धर्म बनाया, तथा इसके प्रचार का अच्छा प्रयत्न किया। तीन सौ वर्ष तक सासानी शासकों का अधिकांश

समय और शान्ति रोमन सम्राटों के विरुद्ध उनके एशियाई राज्यों से लड़ने में लगी रही। आरम्भ में बहुत समय तक ये उन्हें अधिकृत करने में सफल हुए। किन्तु पीछे गृह-कलह से इनकी शक्ति घट गयी। इन्होंने समय की गति के साथ चलना छोड़ दिया। इनका धर्म और संस्कृति निर्जीव हो गये थे, पर ये उनके बिगड़े हुए रूप को ही पकड़े रहे, उसमें सुधार न किया। इन्हें अपनी 'सभ्यता' का अभिमान था; पर अब 'सभ्यता' का अर्थ विलासिता और ऐयाशी रह गया था। अब जनता में न ताजगी थी, और न बल था। अन्ततः इन्हें अपने अधिकृत प्रदेशों से वंचित होना पड़ा।

इस बीच में इसलाम धर्म के प्रवर्तक मोहम्मद साहब के नेतृत्व में, अरब में एक महान शक्ति का उदय हो गया था। ईरान वाले बाहरी आक्रमणों से बहुत थक चुके थे, आन्तरिक युद्धों से भी इनके बल का बहुत ह्रास हो चुका था। मुसलिम सेना ने इनकी राजधानी टेसीफन पर अधिकार कर लिया—यह नगर संसार भर के सबसे अधिक धनी देशों में से था; चार शताब्दियों से यह सम्राटों के वैभव का प्रदर्शक था। नेहबन्द की लड़ाई में ईरान के इस दूसरे सामाज्य का अन्त हो गया, अब से ईरान अरब के खलीफाओं के अधीन हो गया।

अरबों की विजय से ईरान में, यूनानी आक्रमणों की अपेक्षा कहीं अधिक परिवर्तन हुए। भाषा तथा शासन सम्बन्धी कुछ बातों को छोड़कर, प्राचीन ईरानी सभ्यता की सभी मुख्य बातें विलुप्त हो

गयीं। ज़रदुश्त का चलाया हुआ धर्म कुछ थोड़े से लोगों में, 'पारसियों' में, रह गया।

इस प्रकार ईरान की भूमि ने कितने उलट-फेर देखे! पहले ईरानी साम्राज्य को यूनानियों ने नष्ट किया। पीछे, यूनानी अधिकारियों को पार्थियों ने हटा दिया। ये पार्थी कालान्तर मे ईरानियों द्वारा हटाये गये। अन्त में यह दूसरा ईरानी साम्राज्य इसलाम की अधीनता में आ गया।

यहा किसी समय में विपुल सेना के अस्त्रों से आकाश मेघाच्छन्न प्रतीत हुआ करता था। इस राज्य की फौज के कूच से मानों पृथ्वी हिलती थी। इसने अनेक देशों और जातियों को रौंद डाला था। अब प्राचीन धूम-धाम और शान शौकत कहाँ! कहीं-कहीं केवल 'आतिशकदा' (अग्नि-स्थानों) तथा सूर्य-मंदिरों के चिन्ह हैं, जो धर्म-प्रचारक महात्मा ज़रदुश्त की याद दिलाते हैं।

ईरानी सामाज्य के पतन के कारण इसकी कथा के सिलसिले में बताये जा चुके हैं। तथापि कुछ विशेष प्रकाश डालना उपयोगी होगा। प्रथम तो यह विचारणीय है कि आरम्भ में जो जातिया संयम, सादगी और सहिष्णुता आदि गुणों का सम्यक् परिचय देती हैं, वे भी सामाज्य निर्माण कर लेने पर, दूसरों की प्रत्यक्ष या परोक्ष लूट से अपने को धनवान बना लेने पर, एवं लोगों को किसी न किसी रूप में दास बना लेने पर, प्रायः उपर्युक्त गुणों से वंचित हो जाती है। ईरानियों के सम्बन्ध मे यह कथन बहुत ही

अच्छी तरह चरितार्थ होता है। यह पहिले कठोर जीवन व्यतीत करने, और मादक पदार्थों से परहेज़ रखने में प्रसिद्ध थे, पर यूनानियों को इनका जो परिचय मिला, उससे ये रहन-सहन और खाने-पीने में विलासी तथा मद्यपी ही प्रतीत हुए। कहा जाता है कि मित्र (मथरा) के वार्षिक त्यौहार पर बादशाह को शराब पीने के लिए बाध्य किया जाता था। ईरानियों को यथा-सम्भव विश्व-विजयी होने की अभिलाषा थी, बार-बार उन्होंने पश्चिमी एशिया, यूनान, मिश्र आदि देशों पर आक्रमण किये, अपनी आन्तरिक उन्नति की ओर ध्यान न देकर, जब स्वार्थवश बाहर विजय करने में शक्ति का व्यय किया जाता है, तो उसका परिणाम अन्ततः घातक होने वाला ठहरा।

दूसरे ईरानी साम्राज्य के समय ईरान में धर्म की बहुत दुर्गति थी। सम्राट् ने जरदुश्त धर्म स्वीकार कर लिया था, (यह वही धर्म है, जो पारसी मानते हैं)। इस प्रकार यह धर्म राज-धर्म हो गया था। सम्राटों पर पुजारियों और महन्तों को बहुत प्रभाव था, वे बहुधा धर्म के कट्टर अनुयायी होते थे। वे दूसरे धर्मों के प्रति सहनशील न थे। वे लोगों पर जबरदस्ती इस धर्म को लादते थे। यह बात धीरे धीरे असह्य हो चली थी, विशेषतया इसलिए कि धर्म में बाहरी आडम्बर और रीति-भात को बड़ा महत्व दिया जाता था। प्रत्येक आदमी से यह आशा की जाती थी कि वह इन धार्मिक कृत्यों में भाग ले। पाखंड बढ़ गया था। छूत-छात की भावना बहुत फैल गयी थी। लोगों का सामाजिक जीवन बड़ा कष्टमय हो गया था। इस परिस्थिति का

सामना इसलाम से हुआ। यह धर्म विचार-स्वतंत्रता का प्रचारक था, सब धर्मों के प्रति सहनशील था, और ऊच नीच का विचार न कर सब मुसलमानों की एक बिरादरी मानता था। यह स्वाभाविक ही था कि आदमी ज़रदुश्त धर्म के पुरोहितों और शासकों से पिंड छुड़ाने, और इसलाम की प्रभुता स्वीकार करने के इच्छुक हों।

इसके अतिरिक्त स्मरण रहे कि स्वार्थ और ईर्षा ने भी ईरानी राज-वंश को कमज़ोर कर दिया था। पारस्परिक सहयोग का अभाव था। समय-समय पर गृह-कलह ने विकराल रूप धारण किया। जब ईरानी साम्राज्य इस प्रकार क्षीण हो रहा हो, तो वह उत्साही, मृत्यु से खेलने वाले, संगठित, और नवीन धर्म से अनुप्राणित अरब वालों के सामने नत-मस्तक हो गया, इसमें क्या आश्चर्य !

दसवाँ अध्याय

मिश्र का साम्राज्य

ऐ साकी ! अब रहे न वे दिन ,
मदन केलि का समय नहीं।
नहीं रङ्गशाला, रग-मीनी ,
गया साज-समान कहीं ॥

—किशोरीदास वाजपेयी

मिश्र के गगन-चुम्बी मीनार अब भी इसकी उच्च शिखर पर पहुँची हुई प्राचीन सभ्यता की सूचना देते हैं। निस्सन्देह किसी समय यह शक्तिशाली साम्राज्य आकाश से बातें करता था। पर अब तो जमीन-आसमान का अन्तर हो गया। मिश्र के आधुनिक धर्म और सभ्यता में ऐसी बातों का प्रायः अभाव ही है, जो मिश्रवासियों को इस देश के प्राचीन धर्म और सभ्यता से जोड़ने वाली हों। हज़ारों वर्ष जीवित रह कर भी आज वे लुप्त-प्रायः हैं। अब तो सवा हज़ार वर्ष से यहाँ अरबी धर्म और अरबी सभ्यता का बोल-बाला है। मिश्र की प्राचीनता की याद दिलाने वाली बातों में केवल उसके मीनार, विशाल मंदिरों के भग्नावशेष, और मृतकों के शव हैं। मिश्र की भूमि अब भी है, यहां आदमी भी रहते हैं, और हज़ारों वर्ष का बहुरङ्ग इतिहास अपने हृदय-

पटल पर धारण करने वाली नील नदी भी यहा बहती है। पर प्राचीन मिश्र और मिश्री अब भूगोल और इतिहास की वस्तु बन गये।

अफ्रीका महाद्वीप में मिश्र ही एक-मात्र देश है, जहां प्राचीन काल में सभ्यता का विकास हुआ। संसार में पुरातन सभ्यताओं के केन्द्र प्रायः किसी नदी के किनारे, उपजाऊ भूमि में रहे हैं। मिश्र की सभ्यता का जितना श्रेय यहा के निवासियों को है, उतना ही यहा की नील नदी को दिया जा सकता है; यह मिश्र वालों की गङ्गा-जमुना रही है।

मिश्री साम्राज्य की कथा बहुत पुरानी है, और इसका प्राचीन इतिहास अभी तक खोज का विषय बना हुआ है। दंत-कथाओं से, प्राचीन स्तूपों, मूर्तियों और खंडहरों आदि से, क्रमशः कुछ सामग्री संग्रह की गयी है। मिश्र के राज्य का इतिहास, कुछ लेखकों के मत से आठ हजार वर्ष का, और कुछ के मत से इससे भी अधिक समय का है। पूर्व वृत्तान्त राज-वंशों के क्रमानुसार संग्रह किया गया है। अभी तक भी कुछ वंशों के समय निर्धारण में बहुत मत-भेद है। प्रायः इतिहासकारों के अनुसार यहां प्रथम राज-वश ईसा से लगभग ३४०० वर्ष पूर्व हुआ, और उसका संस्थापक मानी (मीनीज़) हुआ, परन्तु वास्तव में इस राज-वंश से पहले कितने ही राज-वंश हुए, तथा इस राज-वश में भी मानी से पहले कितने ही राजा हो चुके थे। अस्तु, मानी ने उत्तरी और दक्षिणी मिश्र को मिलाया और मेम्फी में राजधानी बनायी। मिश्र के प्राचीन शासक पेरो (फैराओ) कहलाते थे।

ये अपने आपको सूर्यवंशी मानते थे। क्रमशः मिश्र के शासकों ने अपने देश से बाहर, अन्य भागों को विजय करना आरम्भ किया। इस प्रकार मिश्र का साम्राज्य अठारहवें वंश में बढ़ा। इस वंश के आरम्भ होने का समय ई० पू० सन् १५८० माना जाता है। इसके संस्थापक अहमोसे ने पहले तो डेलटा के पूर्वोत्तर में हिक्सों* पर चढ़ाई करके उन्हें सीरिया तक खदेड़ दिया; मिश्र में मिश्र वालों का ही राज्य स्थापित किया। पीछे उसने दक्षिण-पश्चिमी फिलिस्तीन (पेलेस्टाइन) पर आक्रमण किया। उसने शाम (सीरिया) और न्यूबिया आदि में भी लड़ाइयां लड़ीं। तीस साल तक विद्रोह आदि से मुक्त रह कर, तथा सुख शान्ति का उपभोग करके मिश्र में अब युद्ध और विजय करने की लालसा जाग्रत हो गयी। उसके पास धन था, और शक्ति थी। अब वह मानों सैनिक राज्य हो गया था।

मिश्र के इतिहास में यह नया युग था। अब वह अपनी सीमा में परिमित रहना नहीं चाहता था। अब तो आक्रमणों और विजय का, महत्वाकांक्षाओं और विस्तार-वृद्धि का ज़माना था। विजेता वंश के तीन शासकों ने अपनी शक्ति के स्थायी स्मारक छोड़े हैं। सम्राट् थुतमोसे (टेथमोसिस) प्रथम ने मिश्र के उत्तरी प्रान्तों को पूर्णतः अधीन किया, न्यूबिया पर आक्रमण किया, तथा शाम की ओर भी धावा किया, और फ़ुरात नदी तक चढ़ाई की। तदन्तर

*हिक्सो (हाइक्सस) का अर्थ गडरिया है। ये लोग अरब आदि की मरूभूमि में घूमने वाले थे, इन्होंने मिश्र का कुछ भाग अपने अधीन कर लिया था।

उसने अपनी राजधानी थीवी में विशाल स्मारक बनवाये। सम्राट् थुतमोसे द्वितीय ने अरब वालों पर धावा करके उन्हें परास्त किया। थुतमोसे तृतीय ने शाम के विद्रोहियों का दमन किया, वह अपने विरोधियों को हराता हुआ फ़ुरात नदी के पार चला गया। उसने बेबिलन, इथियोपिया, असुरिया, और फीनीशिया आदि विविध राज्यों से भेंट ली। उसने अपने कैदियों की मज़दूरी, तथा पराजित राज्यों की लूट और भेंट से अपनी राजधानी के मंदिरों का वैभव बढ़ाया। उसने अपने समय में मिश्र को संसार की एक प्रमुख शक्ति बना दिया।

एक स्मारक से सूचित होता है कि उसके जहाजी बेड़े-काले सागर तक व्यापार करते थे। इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि पश्चिम में एलजीरिया तक इस (थीवन) साम्राज्य का आधिपत्य था। और, उस प्राचीन समय में भूमध्यसागर 'मिश्र की नील' बन गया था।

थुतमोसे तृतीय के पुत्र अहमोसे द्वितीय ने असुरिया पर आक्रमण किया, और निनेवा को अपने अधिकार में ले लिया। जैसा कि पहले कहा गया है, सम्राटों की इन विविध विजयों से मिश्र को पराजित देशों से लूट-मार तथा भेंट आदि का अपरिमित द्रव्य एवं अनेक युद्ध के कैदी मिलते थे, जो मिश्र का बाहरी वैभव, निर्माण-कार्य, ऐश्वर्य और विलासिता बढ़ाने में सहायक होते थे। सम्राटों में, और उनके साथ अन्य उच्च अधिकारियों में, दर्प और अहंकार तथा अभिमान आदि की मात्रा बढ़ती जाती थी।

सम्राट् अहमोसे तृतीय (ई० पू० सन् १४००) का शासन फ़ुरात नदी तक बना रहा, कोई उसका विरोध करने वाला न था। इस नदी के पार भी मितन्नी (मिटानी), असुरिया (एसीरिया) और वेबिलोनिया आदि के बड़े बड़े राज्य उससे पत्र-व्यवहार करते तथा उसे अपनी लड़कियाँ देते थे। साइप्रस का बादशाह भी उसका सम्मान करता था। साम्राज्य के अन्तर्गत शाम (सीरिया) के खानदान के शासक जो अपनी भूमि पर शासन करते थे, वे व्यक्ति थे, जो उसके पिता द्वारा पराजित किये गये थे, और जिनकी शिक्षा-दीक्षा मिश्र में ही हुई थी; इस प्रकार ये पेरो के सेवक-मात्र थे।

सम्राट् अहमोसे चतुर्थ की, कुछ लेखकों ने बहुत निन्दा की है। 'ऐनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में भी इसके विरुद्ध बहुत-कुछ लिखा गया है। प्रायः लेखकों ने इसे समझने में, बड़ी भूल की है। वास्तव में यह संसार के सर्व-श्रेष्ठ पुरुषों में से हुआ है। मिश्र में इस समय विविध देवी-देवताओं की पूजा होती थी, मंदिरों में असख्य सम्पत्ति लगी हुई थीं, महन्तों और पुजारियों का जीवन बहुत पतित था, उनमें विलासिता और व्यसनों की भरमार थी, उनका जनता पर बहुत प्रभाव था। इस सम्राट् को प्रजा के धन तथा शक्ति का यह दुरुपयोग बहुत अखरा। उसने इसमें सुधार करने का बीड़ा उठाया, एकेश्वरवाद का प्रचार किया, और सूर्य को ईश्वर का रूप घोषित किया। मिश्र में, अन्यान्य देवताओं में, 'आमन' की बड़ी भक्ति थी। सम्राट् के नाम का अर्थ भी 'आमन सन्तुष्ट है' था। इस सम्राट् ने

इस नाम को बदल कर अपना नाम 'इखनातन' (सूर्य-भक्त) रखा। उसने स्मारकों पर से आमन की आकृति तथा नाम खुर्चवा दिया। सब स्थानीय मंदिरों में सूर्य की पूजा करायी जाने लगी। 'आमन' के मंदिरों में आने वाली सब भेंट तथा आय ज़ब्त करके लोकोपकारी कार्यों में लगायी जाने लगी।

इस सम्राट् का जीवन बहुत सादा था, यह धूम-धाम या शान-शौकत पसन्द न करता था, यह सर्वसाधारण से मिलता, गलियों और मुहल्लों में जाता, लोगों की शिकायतें दूर करता, और उनकी उन्नति की बातों की ओर ध्यान देता। यह बात समाज के उच्च या प्रतिष्ठित वर्ग को अच्छी न लगी। धनी-मानी लोग तथा महन्त और पूजारी आदि इससे बहुत अप्रसन्न रहने लगे। पर इसने उसकी परवाह न की। इसने अपनी राजधानी, आमन के प्रसिद्ध नगर थीबी, का परित्याग कर, मरुभूमि के किनारे 'एल-अमरना' नामक एकान्त स्थान में बनायी, और इसका नाम 'अखेतातन' रखा। यह सम्राट् बहुत सरल और शान्त प्रकृति का था; और, साम्राज्य-शासन में भी इसकी नीति भारतवर्ष के अशोक की तरह उदार और अहिन्सक थी। शाम आदि के शासकों ने मिश्र की अधीनता त्याग कर स्वतंत्र होने का प्रयत्न किया, तो इसने उनका दमन करना पसन्द न किया। इससे इसके शासन-काल में साम्राज्य के कई प्रदेश पृथक् हो गये। उनमें मिश्र की प्रभुता का अन्त होगया। परन्तु इखनातन को इसकी चिन्ता न थी। उसकी नीति निश्चित थी, जिस राज्य की इच्छा हो,

साम्राज्य में रहे, इसके लिए किसी प्रकार का दबाव नहीं डाला जायगा।

पीछे, हरमहिब गद्दी पर बैठा, तो शासन-प्रबन्ध में प्रबल प्रतिक्रिया होने लगी। इसने समाज के धनी और प्रतिष्ठित लोगों को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया, सर्वसाधारण जनता की अवहेलना की। अब मिश्र के प्राचीन धर्म का समर्थन किया गया, आमन की पूजा को प्रोत्साहन दिया गया। फिर, मंदिरों और महन्तों का मान बढ़ा। साथ ही, साम्राज्य के जो प्रदेश स्वतंत्रता का उपयोग करने लगे थे, उन्हें अधीन किया गया। साम्राज्य का विस्तार बढाने का उद्योग हुआ। सब नीति ही बदल गयी। परन्तु इसका परिणाम अच्छा न हुआ। साम्राज्य का विरोध करने वाले राज्यों की संख्या बढ़ती गयी।

ई० पू० सन् १३२१ में रमेश (रामसेस) ने उन्नीसवें वंश की स्थापना की। इसके पुत्र के बाद रमेश दूसरा, छोटी उम्र में ही गद्दी पर बैठा। इसने ६७ वर्ष राज्य किया; न्यूबिया, लिबिया तथा शाम आदि में कई लड़ाइया लड़ीं, मिश्र की सब रियासतों को मिला कर एक किया, और जगह-जगह अपने स्मारक खड़े कर दिये। इसका राज्य यूनान और फारिस तक फैला हुआ था। अरब का भी कुछ भाग इसके अधीन था। इस सम्राट् ने डेल्टा के पास की सीमा को दृढ़ करने के लिए किले बनवाये। इसे महान' कहा जाता है। इसकी ख्याति विशेषतया इसकी राजधानी के वैभव और शान-शौकत के तथा विशाल मन्दिरों और आलीशान इमारतों के कारण है।

इस सम्राट् के अन्तिम दिनों में मिश्र की सैनिकता तथा वीरता लुप्त होने लगी। अब सेना के लिए सूडान, लिबिया और अन्य देशों से वेतन-भोगी आदमियों की भरती होने लगी। डेलटा की उपजाऊ और सम्पन्न भूमि में विदेशी आकर रहने लगे, और मिश्र के समुद्र-तटीय प्रदेशों पर आक्रमण होने लगे।

ईसा पूर्व बारहवीं शताब्दी में पुरोहितों की शक्ति बहुत बढ़ गयी, और उसके साथ सम्राटों की सत्ता घट गयी। स्थान-स्थान पर पुरोहितों द्वारा शासन होने लगा। पश्चात, ईसा पूर्व दसवीं शताब्दी में मिश्र की शक्ति का अधिकाधिक ह्रास होता गया। देश, छोटे-छोटे सरदारों के नेतृत्व में, परस्पर विरोधी सरकारों में विभक्त हो गया। बहुत समय से यहां की सेना मे लीबिया के सैनिक काम कर रहे थे उनके सरदार बड़े-बड़े नगरों में बस गये, वे सम्पति और शक्ति वाले होगये। मिश्र के बादशाह अधिकाधिक निर्बल होते गये। तेईसवे वंश के बादशाहों को अपने अधीन राजाओं पर कुछ अधिकार न था। चौबीसवे वंश के एक मात्र बादशाह को इथियोपिया के आक्रमणकारियों ने मार डाला। पचीसवें वंश से इथियोपिया के शासक राज्य करने लगे।

ई० पू० सन् ५२५ में ईरान के सम्राट् कम्बोजी की सेना ने मिश्र के बादशाह को सिंहासन से उतार दिया। इस से यहाँ एक सीमा तक ईरान की हकूमत हो गयी। पर मिश्र वालों में अभी हिम्मत थी। ई० पू० सन् ४०५ मे उन्होंने अपनी स्वाधीनता पुनः प्राप्त की। परन्तु ई० पू० ३३२ में सिकन्दर ने मिश्र पर चढ़ायी कर दी।

उसने इसे विजय कर लिया। पेरो का यह साम्राज्य लगभग तीन हजार वर्ष, अथवा कुछ लेखकों के विचार से, इससे भी अधिक समय बना रह कर, अन्त में विलीन हो गया।

अस्तु, प्राचीन मिश्र के इतिहास के अनुशीलन से, इस के सामाजिक नियमों, राजनैतिक कायदे-कानूनों, कृषि और सिंचाई की उन्नति, कला-कौशल, ज्योतिष, चिकित्सा एवं युद्ध-विद्या के ज्ञान और अनुभव से, इस में सन्देह नहीं रहता कि इस देश की सभ्यता अपने समय में, अन्य देशों की तुलना में खूब बढ़ी-चढ़ी थी। इसके इस समय बचे हुए खंडहर भी मनुष्यों को—अच्छे अच्छे वैज्ञानिकों को—चकित करने वाले हैं।

ऐसी महान सभ्यता वाले साम्राज्य का अन्त क्यों हुआ ?

इस साम्राज्य ने उन्नति तो खूब की, पर यह उन्नति अधिकांश में भौतिक थी; शरीर सम्बन्धी थी, आत्मा की प्रायः उपेक्षा करते हुए थी। ऐसी एकांगी उन्नति चिरस्थायी नहीं होती। एक बार उस पर प्रबल आघात हुआ कि उसमें उसे सहन करने की, उसका सामना करते हुए अपना अस्तित्व बनाये रखने की, क्षमता नहीं होती। साम्राज्य ने अपने शासनाधिकार से खूब धन कमाया। पराजित भागों से खूब आमदनी हुई। इस धन ने मिश्रियों को कमज़ोर और आरामतलब बना दिया, उन्हें कठोर सैनिक जीवन से विरक्त कर डाला। सब आवश्यकताएँ दासों द्वारा पूरी हो जाने से उन्हें हाथ-पाव हिलाने की न रही; उनमें साम्राज्य को संभालने की क्षमता कैसे रहती।

अपनी उन्नति और वैभव के दिनों में मिश्र अपनी तथा अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए देश-प्रेमी सैनिक न दे सका। उसके पास धन था। धन से उसने जहां अपने ऐश्वर्य की और सब सामग्री ली, वहां उसके साथ, धन के बल से ही सैनिक भी प्राप्त किये। वे सैनिक मिश्र की सेना में केवल इसलिए थे कि उन्हें रुपया मिलता था, वे वेतन-भोगी थे। पर क्या वे उन सैनिकों की तुलना कर सकते थे, जो देश से स्वाभाविक प्रेम रखते, और देश की सन्तान होने के कारण उसके लिए प्राण न्यौछावर करना अपना परम पवित्र कर्तव्य समझते थे? अस्तु, विलासिता और ऐश्वर्य का उपयोग करने वाला साम्राज्य केवल वेतन-भोगी सैनिक ही रख सकता है, और इन सैनिकों का होना साम्राज्य की निर्बलता की सूचना है; चाहे साम्राज्य का अन्त होते-होते कुछ पीढ़ियां ही क्यों न बीत जायें।

साम्राज्य में धार्मिक विद्वेष बहुत अधिक रहा। दूसरों के धर्म के प्रति सहनशीलता न थी। साथ ही अधीन देशों को खूब दबा कर रखा गया, उनके प्रति उदारता का व्यवहार न किया गया। एक सम्राट् (इखनातन) ने साहस करके इस परिपाटी का परित्याग किया, और अपने हृदय की विशालता का परिचय दिया। परन्तु वह बेचारा मरुभूमि के अकेले छायादार वृक्ष की तरह रह गया। उसके बाद, साम्राज्य उसके महान उदाहरण का अनुकरण न कर सका। उसकी नीति निभाने की बात तो दूर रही; उसकी प्रतिक्रिया हुई। यह ठीक है कि इखनातन की उदारता से साम्राज्य का कुछ भाग इससे पृथक

हो गया। परन्तु वह भाग भी साम्राज्य का शत्रु नहीं बना था। अन्य भाग तो साम्राज्य में बने ही थे। अब नीति पलट देने का परिणाम क्या हुआ ? जगह-जगह विद्रोह हुए, उन्हें खूब दमन करने का प्रयत्न किया गया। पर दमन का अस्त्र कब तक सफल हो सकता है! साम्राज्य-सूत्रधार बहुधा दूरदर्शी नहीं होते; वे ऐसी नीति बर्तना चाहते हैं, जिससे उस समय सफलता मिल जाय, पीछे चाहे जो हो। उनमें साम्राज्य की तृष्णा रहती है, वह तृष्णा पूरी नहीं होती। कुछ और, कुछ और, यही उनकी कामना रहती है। पेट भर जाता है, पर नीयत नहीं भरती। इसका दुष्परिणाम ? बदहजमी और अपचन। साम्राज्य में बदहज़मी हो गयी, वह रोगी हुआ। और, रोग का इलाज न होने पर तो मृत्यु आने वाली ठहरी।

यह कहा जाता है कि प्रकृति ने सहारा का क्षेत्र क्रमशः बढा कर मिश्र की उपजाऊ भूमि को बहुत सकुचित कर दिया, हम इसके सम्बन्ध में विशेष विचार न कर, यही कहना चाहते हैं कि स्वय मनुष्य पर अपने पतन का उत्तरदायित्व कुछ कम नहीं है। ज्यों-ज्यों मिश्र ने पहले छोटी-छोटी रियासतों से एक बड़े राज्य का, और पीछे राज्य से एक बड़े साम्राज्य का, स्वरूप ग्रहण किया, उसका हृदय उसी परिमाण में बड़ा न हुआ वह छोटा ही रह गया; वरन् धन और सभ्यता के भार से वह और भी छोटा हो गया। क्षुद्र हृदयवान होने पर साम्राज्य का पतन अनिवार्य है।

ग्यारहवाँ अध्याय

यूनानी साम्राज्य

ज़मीने-चमन गुल खिलाती है क्या क्या,
बदलता है रंग आसमाँ कैसे-कैसे।
न गोरे सिकन्दर, न है कब्रे दारा,
मिटे नामियों के निशां कैसे-कैसे॥

मौजूदा योरप कई दृष्टि से यूनान का बच्चा है। योरप पर यूनानी विचार और यूनानी तरीकों का गहरा असर पड़ा है। लेकिन वह वैभव और शान, जो यूनान की थी, अब कहाँ है। इस पुरानी सभ्यता को गायब हुए अनेक युग बीत गये। —जवाहरलाल नेहरू

पिछले अध्यायों में एशिया और अफ्रीका के कुछ साम्राज्यों का विचार किया गया है। अब हम उस साम्राज्य के विषय में विचार करेंगे, जो योरप का सबसे प्राचीन साम्राज्य माना जाता है। किन्तु यह साम्राज्य भी एक प्रकार से है तो एशियाई ही; अथवा यों कह सकते हैं कि वह जितना योरपीय है, उसकी अपेक्षा एशियाई अधिक है। वह बाहरी दृष्टि से योरपीय है, और सूक्ष्म विचार से एशियाई। यह साम्राज्य है, यूनानी साम्राज्य।

वर्तमान योरपीय सभ्यता का स्रोत रोम माना जाता है, और योरप का यह आदि-गुरू रोम स्वयं यूनान का शिष्य था। प्रायः योरपीय इतिहासकारों का कथन है कि योरप में सबसे पहले यूनान वालों ने दूर-दूर अपनी बस्तिया बनायीं, वे भू-मध्य सागर के चारों ओर फैल गये। उपर्युक्त इतिहास-लेखक अफ्रीका के उत्तर, और योरप के दक्षिण के अतिरिक्त, एशिया के पश्चिम भाग में यूनानियों की बस्ती स्थापित हुई मानते हैं। वास्तव में, प्राचीन यूनानी, आर्य ही थ। आर्य लोगों ने एशिया से पश्चिम की ओर बढ़ते-बढ़ते यूनान और इसके आस पास के प्रदेशो पर अधिकार कर लिया था। इस प्रकार पश्चिमी एशिया के प्रदेशों में यूनान की बस्तिया न होकर, स्वय यूनान ही पश्चिमी एशिया के आर्यों का उपनिवेश था।

कई युगों तक एशिया योरप पर हावी रह चुका है। एशियाई लोगों की बाढ़ की बाढ़ योरप जाती रही है, और उसे फतह करती रही है। इन लोगों ने योरप को उजाड़ा भी, और उसे सभ्यता या तहज़ीब भी सिखायी। आर्य, शक, हूण, अरब, मंगोल और तुर्क ये सब एशिया के किसी-न किसी हिस्से से आये थे, और योरप और एशिया के चारों ओर फैल गये थे। ये एशिया में टिड्डी दल की तरह बेशुमार तादाद में पैदा होते रहे। सच तो यह है कि योरप बहुत दिनों तक एशिया का उपनिवेश रहा है, और उसकी बहुत सी जातियां एशिया से गये हुए हमला करने वालों की सन्तानें हैं। [श्री० जवाहरलालजी नेहरू, 'विश्व इतिहास की झलक' में]

यूनान कोई एक संयुक्त भू-भाग नहीं है। यह कई टापुओं या प्रायद्वीपों का समूह है, इनमें से एथन्स, स्पार्टा, कारिन्थ और मकदूनिया आदि ने समय-समय पर इतिहास-प्रसिद्ध कार्य किये हैं। प्राचीन यूनान का प्रत्येक नगर, जब बलवान होता था, अपना छोटा-सा स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लेता था। बहुधा बलवान नगर निर्बल को थोड़ा-बहुत अपने अधीन कर लिया करता था। कुछ हिस्सों में कई-कई नगर मिलकर एक संघ बना लेते थे, तब भी संघ का प्रत्येक नगर अपना आन्तरिक प्रबन्ध स्वयं करता था। प्रत्येक नगर अपने अलग-अलग उपनिवेश स्थापित करता थे।

ईरान के साम्राज्य के प्रसंग में, यह बताया जा चुका है कि वहाँ के बादशाह ने यूनान पर धावा किया था, जिसमें अन्ततः ई० पू० सन् ४९० में मेरेथान नामक स्थान पर यूनानियों को, अथवा यों कहिए कि एथन्स वालों की, विजय हुई। यूनान के एक छोटे से नगर-राष्ट्र ने ईरान के विशाल साम्राज्य की सेना को कैसे परास्त कर दिया? इसका रहस्य इस बात में है कि प्रथम तो एथन्स वालों को अपने नगर में ही रहकर लड़ना था, और उन्हें सब प्रकार की स्थानीय सुविधाएँ प्राप्त थी, जब-कि ईरान वालों को, अपने स्थान से बहुत दूर, दूसरे के राज्य में जाकर लड़ना था। इसके अतिरिक्त, एथेन्स वाले अपनी मातृ-भूमि की स्वाधीनता के लिए, अपने भाई-बन्धुओं और मा-बहिनों के हित के लिए, और अपनी भावी पीढ़ियों के वास्ते, लड़ रहे थे;

इसके विपरीत, ईरानी सेना में भिन्न-भिन्न जातियों या समुदायों के आदमियों का समावेश था, जो केवल इसलिए लड़ते थे कि उन्हें लड़ने के लिए वेतन मिलता था। ऐसे लोगों में वह साहस, अपनी जान जोखम में डालकर भी ध्येय-प्राप्ति का उत्साह, कहां हो सकता है, जो उनके विपक्षियों में था! अस्तु, दारा की विफलता बहुत विस्मय-जनक नहीं है। कुछ समय बाद वह ईरान में मर गया, और जरक्सीज वहां की राजगद्दी पर बैठा। इसने भी यूनान को विजय करने के लिए खूब तैयारी की। ई० पू० सन् ४८० में एक विशाल जहाजी बेड़ा तैयार कराया गया। परन्तु संख्या-बल में ईरान की सेना, यूनानी सेना से कई गुनी थी, तो शिक्षा, स्वास्थ्य, और देश-भक्ति में यूनान वाले कहीं बढ़-चढ़ कर थे। फिर इस अवसर पर यूनान के विविध राज्य विशेषतया एथन्स और स्पार्टा अपने पारस्पारिक भेद-भावों को भुलाकर एक हो गये थे। सबका ध्यान एक ही बात की ओर लगा था; सबका मुख्य विचारणीय था स्वदेश-रक्षा और स्वदेश की स्वाधीनता। ईरानी और यूनानी सेनाओं की मुठभेड़ हुई। ईरान के सम्राट् को मुंह की खानी पड़ी, और वह निराश होकर अपने राज्य को लौट आया।

यद्यपि ईरान से लड़ने में स्पार्टा ने एथन्स से भरसक सहयोग किया था, पीछे ये दोनों राज्य आपस में लड़ बैठे। इस गृह युद्ध में स्पार्टा विजयी हुआ। कुछ समय तक यूनान में इसका बोलबाला रहा। कालान्तर में मक़दूनिया (मेसिडोनिया) का उदय हुआ। यहां के

शासक फिलिप ने इस राज्य की शक्ति बढ़ायी और कई प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। स्पार्टा को छोड़ कर, अन्य सब यूनानी राज्यों ने उसकी प्रभुता मान ली। पश्चात्, यह ईरान के बादशाह से, यूनान पर किये गये आक्रमणों का बदला लेने के लिए प्रधान सेनाध्यक्ष निर्वाचित किया गया। वह इस युद्ध की तैयारी में ही था कि मृत्यु ने उसे आ दबाया।

इस वीर और चतुर पुरुष का पुत्र था सिकन्दर, जो पीछे 'महान' पद से विभूषित होकर संसार के सुप्रसिद्ध व्यक्तियों में गिना जाने लगा। बाल्यावस्था में ही इसमें साहस, निर्भीकता और प्रतियोगिता का समुचित भाव था। कहा जाता है कि वह अपने साथियों से कहा करता था कि मेरे पिता सब भू-भागों को जीत रहे हैं, क्या वह मेरे जीतने के लिए कुछ भी न छोड़ेंगे। यह भावना उसके भावी जीवन में खूब विकसित हुई। वह अपने पराक्रम से लोगों को अधिकाधिक चकित करता रहा। योरप में वह सर्व-प्रथम व्यक्ति कहा जा सकता है, जिसने वैज्ञानिक रूप से सैनिक प्रबन्ध किया। वह बहुत उत्तम संगठन करता था, और सैनिक नेता के गुणों से सुसम्पन्न था। अपने पिता के विजय-कार्य को पूरा करने के लिए वह पूर्णतः कटिबद्ध हुआ, और ई० पू० सन् ३३४ में अपनी महान यात्रा के वास्ते रवाना होगया। अगले छः वर्ष में उसने तीन प्रसिद्ध लड़ाइया लड़ कर मिश्र में अपना सिक्का जमा लिया, तथा ईरान के समस्त साम्राज्य को अर्थात् शाम (सीरिया), फीनीशिया, फिलिस्तीन (पेलेस्टाइन),

बेबिलन, बेक्ट्रिया, और ईरान आदि देशों को हस्तगत कर लिया। वह अपनी विजय यात्रा में आगे बढ़ता गया। ई० पू० सन् ३२७ में उसने हिन्दूकुश पर्वत को पार कर वर्तमान अफगानिस्थान और पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त की स्वाधीन जातियों को परास्त किया। पश्चात् वह सिन्धु नदी पर पुल बनवाकर इस ओर आ गया।

भारतवर्ष में उसने जेहलम तक आकर, तक्षशिला आदि स्थानों में पश्चिमी पंजाब की कई जातियों से अधीनता स्वीकार करायी और उपहार ग्रहण किये। फिर वह राजा पुरू (पोरस) पर चढ़ाई करने के लिए आगे बढ़ा, जो उस समय जेहलम और चनाब के बीच के प्रदेश का शासक था। पुरू ने स्वाभिमान और वीरता-पूर्वक उसका सामना किया। घनघोर युद्ध हुआ, अन्त में पुरू बहुत ज़ख्मी होकर पकड़ा गया, और सिकन्दर के सामने लाया गया। सिकन्दर के यह पूछने पर कि तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया जाय, उसने निर्भीकता से उत्तर दिया 'जैसा एक बादशाह को दूसरे बादशाह के साथ करना चाहिए।' सिकन्दर एक वीर पुरुष था, और उसने इस अवसर पर इस बात का परिचय दिया कि वह वीरों का आदर करना जानता है। उपर्युक्त उत्तर सुन कर वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने उसके साथ मित्रता की संधि करके, उससे जीता हुआ सब प्रदेश उसे लौटा दिया।

सिकन्दर की विजय-पिपासा अभी शान्त नहीं हुई थी, वह अभी

और भी पूर्व के भागों को जीतने का अभिलाषी था। परन्तु, उसके मन की मन में ही रही। उसे शीघ्र ही लौटना पड़ा। थक जाने के कारण, तथा यहां के आदमियों की अद्भुत् वीरता देख कर, उसकी सेना ने आगे बढ़ने का साहस न किया। हां, लौटते हुए, कुछ प्रदेशों को विजय किया गया। जेहलम के किनारे एक दरबार किया गया, जिसमें कितने ही राजाओं ने भाग लिया, और सिकन्दर ने अपने विजित प्रदेशों की व्यवस्था करने के लिए उन्हें भिन्न-भिन्न शासकों में विभक्त कर दिया। पश्चात् रास्ते में, सिकन्दर बेबिलन में ठहरा। उसका विचार था कि इस नगर को वह अपने ईरानी और यूनानी मिश्रित साम्राज्य की मध्यवर्ती राजधानी बनाये। परन्तु उसकी मद्यपान करने की आदत, यहां के जल-वायु में, उसके स्वास्थ्य के लिए हानिकर सिद्ध हुई। यद्यपि मिश्र और लघु-एशिया के भिन्न-भिन्न स्थानों में उसने बड़े-बड़े नगरों, नहरों और सड़कों आदि का निर्माण कराया, वह साम्राज्य के संगठन, सुव्यवस्था और प्रबन्ध के लिए यथेष्ट अवसर न पा सका, और ई० पू० सन् ३२३ में, केवल ३३ वर्ष की आयु में इस संसार से विदा हो गया।

यह बताया जा चुका है कि वास्तव में यूनान पश्चिमी एशिया के आर्यों का उपनिवेश था, फिर, सिकन्दर की जन्म-भूमि पूणतया यूनानी थी भी नहीं। तथापि योरप वालों की दृष्टि से कहा जा सकता है कि सिकन्दर पहला योरपियन था, जिसने योरप के बाहर इतना भू-भाग विजय किया। उसका सारा जीवन आक्रमण और विजय में ही व्यतीत

हुआ। उसकी महत्वाकांक्षा इतनी बढ़ी हुई थी, कि यदि वह कुछ समय और ज़िन्दा रहता तो वह अपना समय और शक्ति इसी में लगाता।

सिकन्दर की विजय से योरप एशिया के विविध देशों के, तथा मिश्र आदि के, निवासी एक दूसरे के सम्पर्क में आये, और उनके पारस्परिक विचार-विनिमय की वृद्धि हुई। वह कितने ही आदमियों को योरप से एशिया लाया, और एशिया से योरप ले गया। वह एक ऐसे महान साम्राज्य का निर्माण करना चाहता था, जिसमें एशिया और योरप का, पूर्व और पश्चिम का, भिन्न-भिन्न जातियों और संस्कृतियों का, मिश्रण हो; कुछ भेद-भाव न रहे। बादशाह सब को समान दृष्टि से देखे, यूनानी और गैर यूनानी (बर्बर) का अन्तर न रखे, बादशाह भी चाहे किसी जाति का हो, उसके सुव्यवहार से सब उसे अपनी जाति का माने, किसी के मन में यह भावना न आवे कि हम विदेशी शासकों द्वारा शासित हो रहे हैं। सिकन्दर यह सोचता रहा कि मेरे साम्राज्य की राजधानी किस जगह बनाना उचित होगा, जिससे एशिया और योरप वालों का बराबर सम्बध रहे। उसने कई जगह नगर बसाये, परन्तु वह अन्त तक भी यह निश्चय न कर सका कि राजधानी कहा बनायी जाय।

यह कहा जाता है कि सिकन्दर में पीछे जाकर अहकार, और अभिमान बहुत हो गया था, और वह विजितों और विरोधियों के साथ निष्ठुरता का व्यवहार करता था। इस सम्बन्ध में स्मरण रखना चाहिए

कि जब भुजाओं में बल होता है, लक्ष्मी पास होती है, और सत्ता तथा अधिकार रहता है तो अपने ऊपर पूर्ण नियंत्रण करने वाले व्यक्ति विरले ही मिलते हैं। साधारण आदमी भी जवानी के जोश में भूलें करते हैं, फिर एक इतने बड़े विजेता ने अपने व्यवहार में त्रुटियाँ की हों तो क्या आश्चर्य! जहा तक हमें मालूम हो सका है, उसमें ये दुर्गुण अपनी श्रेणी के एक औसत दर्जे के व्यक्ति से अधिक न थे। भारतवर्ष में राजा पुरू के साथ उसका जो सद्व्यवहार रहा, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। हाँ, सिकन्दर शराब पीता था, और उसके नशे में वह अपने आपको भूल गया और कोई अनुचित कार्य कर बैठा तो यह और बात है। साधारणतया, वह अच्छा आदमी था, और उसके सामने एक महान आदर्श था।

सिकन्दर के आक्रमण का भारतवर्ष पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। भारतवर्ष, ईरान और यूनान में पहले से भी कुछ आमोदरफ़्त थी। हाँ, अब कुछ सम्पर्क और बढ़ गया। भारतवर्ष का इण्डिया नाम यूनानी 'इडास' (इडास=सिन्धु) से बना है। यूनानियों ने भारतीय विद्वानों और दार्शनिकों से बहुत-सी बातें ग्रहण कीं। इरानी तो यूनानवालों के निकट ही थे; उनकी सभ्यता का यूनान पर खासा प्रभाव पड़ा। जब जातियों या संस्कृतियों का मेल होता है तो उनमें परस्पर लेन-देन होता ही है।

सिकन्दर का विशाल परन्तु बिखरा हुआ साम्राज्य उसके देहान्त के बाद, कुछ ही वर्ष तक रह पाया। यह कल्पनातीत शीघ्रता से बढ़ा था,

और बात-की-बात में नष्ट हो गया। सिकन्दर के वंश में कोई ऐसा व्यक्ति न था, जो इसे संभाल सकता। साम्राज्य के विविध भाग उसके सेनापतियों में विभक्त हो गये। कभी किसी सेनापति का प्रभुत्व हुआ, कभी किसी का। इनका आपस में खूब संघर्ष रहा। अन्ततः फारिस और शाम (सीरिया) सेल्यूकस और उसके वंशजों के हस्तगत हुए, और मिश्र टालमियों के।

यूनान और मकदूनिया में भी काफी उथल-पुथल रही। कुछ काल पश्चात् इन पर पूर्वी गाल लोगों के आक्रमण हुए। पीछे मकदूनिया ने यूनान के अधिकांश, विशेषतया उत्तरी भाग पर अधिकार प्राप्त किया। अन्ततः ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में सभ्य यूनान असभ्य रोम के आधिपत्य में आकर रहा। परन्तु इससे यूनान के रीति-रिवाज और धार्मिक या सामाजिक उत्सवों में कोई अन्तर नहीं आया, इसके विपरीत रोम वाले ही उन्हें अपनाने लगे। इस प्रकार यूनान ने अपने विजेताओं पर मानसिक विजय प्राप्त की। हां, यूनान अपनी राजनैतिक स्वतंत्रता खो बैठा, यद्यपि रोम के अधिकार में आने के लगभग साठ वर्ष बाद उसने एक बार उसे पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न किया, पर वह सफल न हुआ। विश्व-विजय की आकांक्षा करने वाले सिकन्दर का राज्य चिरकाल के लिए स्वयं दूसरों के अधीन हो गया।

इस साम्राज्य के पतन के कारण कुछ रहस्यमय नहीं है। धन बढ़ा, सभ्यता बढ़ी, विलासिता आयी। मद्यपान का तो खूब ही दौर-दौरा

रहने लगा। रात को मद्यपान के साथ नाच-खेल भी होते थे। साधारण स्थिति के आदमी भी समय-समय पर अपने मित्रों आदि को मद्यपान के लिए आमंत्रित करते थे। मद्यपान करते हुए ही एक दूसरे की आरोग्य-कल्पना करने की भी चाल थी। खुशी के अवसरों पर तो मद्यपान के साथ वेश्या-नृत्य आदि भी खूब होता था। आदमी धीरे धीरे आरामतलब हो गये। ये युद्ध-विद्या से विमुख रहकर व्याख्यान या भाषण आदि में अपना चतुराई दिखाने लगे। सेना अब वेतन-भोगी आदमियों की रहने लगी, कर-भार बढ़ गया, आर्थिक स्थिति शोचनीय हो गयी।

यूनान का स्वतंत्रता का आदर्श बहुत संकीर्ण था। निस्सन्देह उसने राष्ट्रीय तथा व्यक्तिगत दोनों प्रकार की स्वतन्त्रता का महत्व समझ लिया था। उसने जान लिया था कि राज्य को दूसरों के हस्तक्षेप से मुक्त रहकर अपना प्रबन्ध स्वयं करना चाहिए; साथ ही, प्रत्येक नागरिक को शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक स्वतंत्रता रहनी चाहिए, समाज को किसी के कार्य या विचारों आदि में दखल न देना चाहिए। यूनान ने इस बात का प्रयोग किया कि प्रत्येक नागरिक को राज-कार्य में भाग लेने का अधिकार हो। परन्तु दोनों ही प्रकार की स्वतन्त्रता के आदर्श में न्यूनता रही। जिस यूनान ने अपनी स्वतन्त्रता का मूल्य समझा, खेद है कि वही साम्राज्याभिलाषी बन गया, उसने दूसरे राज्यों की स्वतंत्रता का ह्रास किया। उसने कभी यह विचार नहीं किया कि

स्वतंत्र राज्यों से भी उसका सम्बन्ध या व्यवहार हो सकता है। उसने अपने से भिन्न सब भू-भागों को 'असभ्य' समझा, और शक्ति-भर इन 'असभ्य' भागों के निवासियों को विजय करने में लगा रहा; संधि करने की बात उसके ध्यान में ही न आयी। पुनः यूनान के विविध नगर-राज्यों का बहुधा परस्पर में भी मित्रता का व्यवहार न रहता था। एक राज्य, बल पाकर दूसरे की स्वतंत्रता अपहरण करने का इच्छुक रहता था, वह स्वतंत्रता को अपने ही नगर की चार-दिवारी के भीतर कैद करके रखना चाहता था।

अपने बल-मद मे, यूनानी अपने विद्वान थ्यूसीडाइडीस के इस कथन को भूल गये कि 'जो व्यक्ति अपने को आवश्यक प्रतीत होने वाली वस्तु दूसरे को देने में इनकार करता है, उसे वह वस्तु नहीं पचती।' यूनानी राज्यों को भी स्वतंत्रता नहीं पची, शीघ्र ही उन्हें इससे वंचित होना पड़ा।

पुनः यूनान का व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विचार और आदर्श उन लोगों तक ही परिमित रहा, जिन्हें 'नागरिकता' प्राप्त थी। इनकी संख्या कुल जन-संख्या का एक छोटा-सा भाग था। एथन्स आदि नगरों में 'नागरिक' से कई गुना जन-समुदाय गुलामों का, अथवा, ऐसे लोगों का था, जिन्हें नागरिक अधिकार प्राप्त न थे। यूनानी समाज में स्त्रियों का पद भी बहुत नीचा माना जाता था। इन्हें भी नागरिकों में नहीं गिना जाता था।

क्या यह चिन्तीय नहीं है कि सभ्यता का दम भरने वाला यूनान

गुलामी का समर्थन करे, और अनेक गुलाम रखे ! साधारण आदमियों की बात अलग रही, यहाँ के अच्छे-अच्छे सुप्रसिद्ध दार्शनिक और विद्वान भी अपने समय के प्रवाह में बह गये, वे उससे न बच सके। अरस्तू का मत था कि गुलामी समाज के लिए स्वाभाविक और आवश्यक है। कुछ आदमी बुद्धि-हीन होने केकारण, गुलामी के ही योग्य होते हैं। अफलातून (प्लेटो) को यह तो पसन्द न था कि यूनान वाले गुलाम हों, पर वह भी यह आवश्यक समझता था कि बहुत से विदेशी, गुलाम रहें। निदान, यूनान में कई प्रकार के गुलाम रहते थे। युद्ध के कैदी तो गुलाम होते ही थे। स्वतन्त्र नागरिक अपनी सन्तान को बेच सकते थे; यह सन्तान अपने खरीदारों की गुलाम होती थी। कर्ज़दार को, ऋण चुकाने के समय तक, अपने महाजन का गुलाम होना पड़ता था। गुलामों से खेती, मजदूरी, घरेलू चाकरी आदि विविध काम लिए जाते थे। प्रायः इन्हें सामाजिक या राजनैतिक कुछ भी अधिकार नहीं होते थे। हाँ, इनके प्रति ऐसी निर्दयता नहीं होती थी, जितनी पीछे रोम-साम्राज्य में होने लगी।

इस प्रसंग में यह बात भी उल्लेखनीय है कि पिछले दिनों में यूनान में कोरे दार्शनिकों की बहुत वृद्धि हो गयी थी। सांसारिक बातों की ओर ध्यान कम दिया जाने लगा था। उच्च विचारों के चिन्तन और मनन का यथेष्ट महत्व है, परन्तु संसार का काम चलाने के लिए, संसार का होकर रहना चाहिए। अपनी व्यक्तिगत

आध्यात्मिक उन्नति की ही बातें सोचने, वाले और अपने भाई-बन्धुओं के हित के रोज़-मर्रा के कार्यों में योग न देने वाले व्यक्तियों से राज्य या साम्राज्य का भार नहीं सभाला जा सकता। अस्तु, साम्राज्य का पतन स्वाभाविक था, अनिवार्य था।

सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् साम्राज्य में कोई केन्द्रीय शक्ति ऐसी न थी, जो इसे संगठित रखती। साम्राज्य अपने अधीन भागों का प्रबन्ध न कर सका। बाहर की बात छोड़ दें, राज्य के भीतर भी एकता न थी। पास में भेद-नीति में कुशल, और फूट डाल कर शासन करने वाला, रोम था ही। यूनान की भिन्न-भिन्न रियासतों में नित्य झगड़ा होने लगा, प्रत्येक रियासत अपने आपको ऊँचा सिद्ध करने की फिकर में रहती। घर के कलह का निवारण न हो सका। रोम के कम सभ्य विजेताओं को इस साम्राज्य पर विजय पाने में विशेष कठिनाई न हुई। असभ्यता या अर्द्ध सभ्यता ने सभ्यता को जीत लिया। संसार के इतिहास में यह बात कितनी बार दोहरायी गयी है। रोम का उत्थान, यूनान का पतन सिद्ध हुआ।

बारहवाँ अध्याय

रोम साम्राज्य

योरपीय इतिहास का केन्द्र रोम है, रोम ने वह विशाल साम्राज्य स्थापित किया जिसमें सब प्राचीन इतिहास की धाराओं की समाप्ति, तथा आधुनिक इतिहास की धाराओं का उद्गम है।

—फ्रीमेन

जब कोई जाति उन्नति के शिखर पर पहुँच कर ऊँच-नीच तथा वर्ण-भेद की निगाह से मानव समुदाय को देखा करती है, तो उसका अधःपतन शुरू हो जाता है। रोम-साम्राज्य की सभ्यता इसी दुर्गुण के कारण काल-कवलित हुई, और अगर वर्तमान योरपीय सभ्यता विनाश के गर्त में आपाद-मस्तक डूब जाय तो उसके लिए भी यही दुर्गुण जवाबदेह होगा।

—सर्वपल्ली राधा कृष्णन्

रोम साम्राज्य वह साम्राज्य है, जिसका शिष्य समस्त पश्चिमी योरप है। इसी ने इंगलैंड के आदिम निवासियों को मकान और सड़कें बनानी सिखायी थी। यह साम्राज्य इतना विशाल था कि इसके खंडहरों पर कई राष्ट्रों का ही नहीं, कुछ साम्राज्यों तक का निर्माण हुआ है। इन नये साम्राज्यों में से एक साम्राज्य इटली का है, जिसकी राजधानी रोम है। यह साम्राज्य इस समय के विशाल साम्राज्यों में किसी से कम रहना नहीं चाहता। यह पुरातन रोम साम्राज्य की स्मृति को

अपनाये हुए है, और अपने गौरव के सुख-स्वप्न चरितार्थ करने के लिए आतुर है। सहस्रों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी जो रोम-साम्राज्य लोगों के मन में ऐसा प्रभाव डाल रहा है, उसी के विषय में यहाँ विचार करना है।

रोम की स्थापना ई० पू० पाँचवीं सदी में हुई। कुछ लोगों का मत है कि यह कार्य ई० पू० आठवीं शताब्दी में हुआ। आरम्भ के रोमन लोग पहाड़ियों पर छोटे-छोटे गावों में रहते थे, और खेती-बाड़ी करके अपना निर्वाह किया करते थे। पीछे, इनकी बस्तियाँ धीरे-धीरे बढ़ीं, और एक शहर बना जो फैलता गया। कालान्तर में इन्होंने लेटिन संघ बनाकर इटली के उत्तरी भागों को मिलाया। इस समय यूनान तो बहुत उन्नत था ही, उसके अतिरिक्त कार्थेज भी बहुत शक्तिमान तथा धनवान था। यह राज्य उत्तरी अफ्रीका में था। यहा के निवासी जहाज़ चलाने और व्यापार करने में बहुत कुशल थे। रोम वालों ने जो-कुछ सीखा, वह यूनान और कारथेज से ही सीखा। रोम के आदमी उक्त दोनों राज्यों के निवासियों से कम सभ्य थे, और सैनिक शक्ति प्रधान थे। इन्होंने पहले तो कार्थेज से मिल कर, दक्षिण इटली से यूनानियों को निकाला, फिर समय-समय पर कई लड़ाइया लड़ कर क्रमश उक्त दोनों राज्यों को हरा दिया। कारथेज की अन्तिम पराजय ई० पू० सन् २०२ में हुई। अब पश्चिमी योरप में रोम का प्रभाव बहुत बढ़ गया। भू-मध्य सागर के पास सब भागों पर, स्पेन तक, रोम का अधिकार हो गया। पीछे, यहाँ के सेनापतियों ने गाल (फ्रांस,

हालैंड, बेलजियम), और ब्रिटेन (इंगलैंड-वेल्ज़) आदि पर भी अधिकार कर लिया। इसके अतिरिक्त, ये एशिया के पश्चिमी भाग, और अफरीका में मिश्र आदि उत्तरी भाग, को जीत कर इनके भी स्वामी बन गये।

रोम आरम्भ में एक नगर-राज्य था, पीछे यह दूर-दूर के अपने अधीन भागों का शासन करने लगा। रोम नगर का शासन एक सिनेट द्वारा होता था। सिनेट में अधिकतर धनी ज़मीदारों का प्रभुत्व था, और इसके सदस्यों को दो 'कौंसल' नामज़द करते थे। कौन्सलों का निर्वाचन होता था, उनके चुनाव में वे लोग मत देते थे, जिन्हें 'नागरिक' माना जाता था, जिन्हें नागरिकता का अधिकार प्राप्त होता था। स्मरण रहे कि नागरिकता, का अधिकार रोम के सब निवासियों को नहीं होता था, निर्धन लोग, गुलाम, तथा स्त्रिया इस से वंचित थीं। जब रोम राज्य का विस्तार होता गया तो बहुत-से नागरिक रोम से दूर-दूर भी रहने लगे, परन्तु निर्वाचन रोम में ही होने के कारण, बहुधा बाहर वालों के मताधिकार का उपयोग नहीं हो पाता था।

जब सेनापतियों ने दूर-दूर के भागों में विजय प्राप्त की तो उनका प्रभाव, धन, और शक्ति बहुत बढ़ गयी। यहां के अनेक सेनापतियों में, ई० पू० पहली शताब्दी में, सीज़र सब से प्रमुख था। परन्तु रोम में लोकतंत्र पद्धति होने से, वह नियमानुसार सर्वोच्च अधिकारी नहीं था। कानून की दृष्टि से, उस पर कई प्रकार के बन्धन थे, उसके अधिकारों की मर्यादा थी। इसे दूर करने के लिए कुछ लोगों ने चाहा कि सीज़र

का राजतिलक किया जाय, उसे मुकुट पहना कर बादशाह बना दिया जाय, जिससे वह कानूनी तौर से सर्वशक्तिमान अधिकारी बन जाय। किन्तु सर्वसाधारण की भावना और परम्पराओं में एकदम परिवर्तन नहीं हुआ करता। सीज़र को बादशाह बनाने वालों की इच्छा पूरी न हुई; उलटा सीज़र को अपने प्राण खो देने पड़े; ई० पू० सन् ४४ में उसका वध कर दिया गया। इस प्रकार लोकतंत्र की रक्षा करने का प्रयत्न किया गया। परन्तु यह प्रयत्न कुछ स्थायी रूप से सफल न हो सका। सेनापतियों की शक्ति बहुत बढ़ चुकी थी, इस सच्चाई से कोई इनकार नहीं कर सकता था, हां, इसे अब तक कानूनी तौर से मान्य नहीं किया गया था। सीज़र के गोद लिए हुये लड़के आक्टेवियन के द्वारा यह कार्य होकर रहा। आक्टेवियन 'प्रिंसेप' अर्थात् मुख्य शासक बना, अब लोकतंत्र समाप्त हो गया। सिनेट बनी तो रही, पर उसे कोई वास्तविक अधिकार न रहा। आक्टेवियन ने अपना नाम 'आगस्टस सीज़र' रखा। उसके उत्तराधिकारी 'सीजर' कहे जाने लगे। सीज़र का अर्थ हो गया सम्राट्। 'कैसर' शब्द इसी से बना है। अस्तु, विविध देशों पर अधिकार कर लेने पर भी, बहुत समय तक रोम के प्रधान शासक 'सम्राट्' नहीं कहे जाते थे। यह पद यहां सर्व प्रथम् ई० पू० सन् ३० में मान्य किया गया।

यह साम्राज्य सैनिक साम्राज्य था, इसमें सैनिक बल का बाहुल्य था। आरम्भ में, नागरिक माने जाने वाले सब समर्थ व्यक्ति युद्ध में भाग लेते थे। क्रमशः साम्राज्य का क्षेत्र बढ़ने के साथ, धन

सम्पदा बढ़ी, सभ्यता और ऐश्वर्य की वृद्धि हुई। नागरिकों में सुकुमारता बढ़ने लगी, इसके परिणाम-स्वरूप केन्द्रीय राज्य की जन-सख्या तथा आदमियों का शारिरिक बल घट चला। विदेशों से किराये के सैनिक लाये जाने लगे। इधर निरंतर रहने वाले युद्धों ने सेना का महत्त्व बढ़ा दिया। उसका प्रबन्ध और संचालन साधारण सिविल अधिकारियों के अधीन न रह कर, अलग, उसके सेनापति के अधीन रहने लगा। इस प्रकार सेना-नायकों की शक्ति बहुत बढ़ गयी, और कालान्तर में ये रोम के राज्य-प्रबन्ध में हस्तक्षेप करने योग्य हो गये, और यह इन्होंने किया। दूसरी शताब्दी के अन्तिम भाग से लगभग सौ वर्ष तक सैनिक ही सम्राटों का चुनाव करते रहे। निर्वाचन मे मत-भेद हो जाने पर भिन्न-भिन्न सेनाओं का परस्पर में संघर्ष भी हो जाता था। अस्तु, अब सम्राट् परामर्श-समिति की परवाह न कर सेना के बल पर शासन करते थे, और स्वभावतः उसे वेतन, पुरष्कार और अधिकारों से प्रसन्न रखने का भरसक प्रयत्न करते थे।

तीसरी शताब्दी के अन्तिम भाग में रोमन सम्राट् डायोक्लिशियन के सामने दो मुख्य समस्याएं थीं—सैनिकों को सम्राटों के बनाने, तथा पदच्युत करने का अधिकार न रहे, और सीमाप्रान्तों की, विविध आक्रमणकारी शत्रुओं से रक्षा की जाय। इन्हें हल करने के उद्देश्य से साम्राज्य चार भिन्न-भिन्न भागों में विभक्त किया जाकर, प्रत्येक भाग पृथक्-पृथक् शासक के अधीन किया गया। दो शासक 'आगस्टस' उपाधिधारी सम्राट् हुए, और दो 'सीज़र' उनके सहायक रहे। इससे

यह लक्ष्य रखा गया कि साम्राज्य की चारों ओर से रक्षा होगी, और सेना इन चार शासकों को वैसी सुगमता से न हटा सकेगी, जैसे कि एक को हटा देती थी। कुछ समय तक इस परिवर्तन से सफलता ही मिली। इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि रोम का अब पहले-जैसा महत्व और गौरव न रहा; अब शासक सुविधानुसार रोम से बाहर रहने लगे; और हां ये केवल मुख्य न्यायाधीश या सेनापति न रह कर वैभव-पूर्ण सम्राटों का जीवन बिताने लगे।

साम्राज्य के चार शासकों की बात विशेष समय तक न चल सकी, कारण, उनमें परस्पर मेल न रह कर, युद्ध होने लगा। अन्ततः कौन्स्टेंटाइन सब पर विजय पाकर सन् ३२३ ई० में एक-मात्र शासक रह गया। इस सम्राट् ने ईसाई धर्म स्वीकार करके, इसे राज-धर्म घोषित किया, तथा थ्रेस में साम्राज्य की नयी राजधानी बनायी, जो इसके नाम पर कुस्तुनतुनिया (कौन्स्टैंटीनोपल) कहलायी। यहां जो परामर्श-समिति बनी उसमें यूनान और एशिया के सदस्यों की संख्या अधिक थी, और ये सम्राट् की इच्छानुसार शासन-कार्य होने में कोई बाधा उपस्थित न करते थे। कुछ लोगों का मत है कि साम्राज्य की राजधानी का यह परिवर्तन, उसके पतन का कारण था, परन्तु इतिहास-लेखक गिबन का मत है, इस घटना से राज्य की शक्ति केवल विभक्त हुई, न कि वह किसी और के पास गयी, नयी राजधानी की स्थापना से, पश्चिमी साम्राज्य के विनाश की अपेक्षा, पूर्वीय साम्राज्य की स्थिरता बढ़ी।

धीरे-धीरे विदेशी जातियों ने लगभग डेढ़ सौ वर्ष के प्रयत्न के बाद, साम्राज्य में घुसना आरम्भ कर दिया। वे अब तक आक्रमण करते रहे थे, जिनमे सफल होने पर उन्हें लूट-मार का धन मिलता था। इसके अतिरिक्त, वे साम्राज्य के सम्पर्क में आने से अंशत: रोमन सभ्यता भी सीख रहे थे। 'गाथ' (जर्मन) लोगों को पिछले आक्रमणों के फल-स्वरूप रोम की ओर से डेसिया नामक एक प्रान्त मिल गया था। वे रोमन आचार व्यवहार विशेष रूप से ग्रहण कर चुके थे। चौथी शताब्दी में जब कि इन पर एशिया से आने वाले हूण लोगों के आक्रमण हुए, तो ये रोम राज्य का आश्रय लेने के लिए बाध्य हुए, और कुछ काल पीछे उसके स्वामी ही बन बैठे। पीछे सम्राट् थियोडोसियस ने उनका प्रभुत्व हटा कर समस्त साम्राज्य पर शासन किया। इस प्रकार पूर्वी और पश्चिमी साम्राज्य का भेद कुछ काल के लिए दूर हो गया। पर साम्राज्य क्रमशः निर्बल होकर, विजातियों के अधिकार में जाता रहा। सन् ३९५ ई० में रोम साम्राज्य पुन: पूर्वी और पश्चिमी भागों में विभक्त किया गया। जिस थियो-डोसियस ने साम्राज्य को एक किया था, उसी ने इसे अपने दो लड़कों में से एक को पूर्वी भाग का, और दूसरे को पश्चिमी भाग का, शासक बना कर पूर्वी साम्राज्य और पश्चिमी साम्राज्य के भेद को भविष्य के लिए दृढ़ कर दिया।

पाँचवीं शताब्दी के आरम्भ में हूण लोगों ने गाथों तथा रोमनों पर आक्रमण किया। अन्य विदेशीय जातियों ने साम्राज्य के भिन्न-

भिन्न भागों में, अधिकार प्राप्त करके, बसना आरम्भ कर दिया। गाथ (जर्मन) सेनाओं ने इटली पर अधिकार कर लिया। इन आक्रमण-कारियों को सर्दी-गर्मी सहने का अभ्यास था, ये निर्धन थे और सादा तथा कठोर जीवन बिताने वाले थे। इन्हें रोम वालों की तरह सुकुमारता, विलासिता और हा 'सभ्यता' का रोग नहीं लगा था। ये निरोग थे, बलवान थे। अस्तु, सन् ४७६ ई० में रोमन सम्राट् ने अपना पद त्याग दिया। इस प्रकार (पश्चिमी) रोम साम्राज्य एक गाथ (जर्मन) सेनापति के अधीन हो गया। यद्यपि वह सेनापति कहने को पूर्वीय सम्राट् का प्रतिनिधि मान लिया गया, इस समय से रोम-साम्राज्य का (जहा तक उसका पश्चिमी भाग से सम्बन्ध था), पतन हो गया।

अस्तु, पूर्वी रोम साम्राज्य में अभी दम बाकी था। वास्तव में, यह रोम-साम्राज्य न था, इसकी भाषा लेटिन न होकर यूनानी थी। इसका पश्चिमी योरप से विशेष सम्पर्क न था। इस साम्राज्य के अधिकतर निवासी यूनानी होने, अथवा यूनानियों के सम्पर्क में रहने, के कारण यथेष्ट सभ्य थे। इस साम्राज्य ने रोम साम्राज्य के पूर्वीय देशों में एकता बनाये रखने मे महत्व-पूर्ण कार्य किया। इस साम्राज्य पर विजातियों के आक्रमण कम होने के कारण, इसकी एकता तथा दृढ़ता कई शताब्दियों तक बनी रही। पीछे, आक्रमण अधिकाधिक होने लगे। शक्ति क्षीण हो रही थी। यहा के विशाल नगरों में यह दशा थी कि एक ओर लक्ष्मी, और उसके साथ रहने

वाली विलासिता का राज्य था; और दूसरी ओर था मज़दूरों और गुलामों का अपरिमित कष्ट। साम्राज्य, ये दोनों भार कैसे और कब तक सहन करता! अस्तु, अरब की स्वतत्रता, सादगी और कष्ट-सहिष्णुता के वातावरण में पैदा हुए इसलाम धर्म के जोशीले अनुयाइयों ने, संसार के अन्य अनेक भागों की भांति, यहां भी अपनी विजय-यात्रा के लिए खुला मार्ग पाया। सन् १४५३ ई० में तुर्कों ने आक्रमण करके कुस्तुनतुनिया पर अधिकार कर लिया। पूर्वीय रोम-साम्राज्य की राजधानी ने अब अपने नये स्वामी का स्वागत किया। रोम सम्राट् उसकी रक्षा करने में असमर्थ प्रमाणित हुए, तो वह शक्तिशाली तुर्क विजेताओं की राजधानी बन गयी। इस प्रकार पूर्वीय रोम-साम्राज्य का भी पतन हो गया।

रोम साम्राज्य अब केवल इतिहास का विषय है। पहले कहा जा चुका है कि रोम वर्तमान योरपीय सभ्यता का श्रोत माना जाता है; यह योरप का आदि गुरू है। इसलिए योरपीय इतिहासकारों ने रोम को पाठकों के सामने अच्छे-से-अच्छे रूप में उपस्थित किया है। वे इसकी प्रशंसा के गीत गाते हुए नहीं थकते। उन्होंने इसके दोषों पर पर्दा डालने की भरसक चेष्टा की है। उनका यह दावा है कि 'रोम अपने समय में कायदे-कानून, नीति, सुव्यवस्था, और सभ्यता का केन्द्र था, उसके ये गुण चिरस्मरणीय हैं। उसकी विजय-पताका जहा-कहीं पहुँची, उसके संसर्ग में जो कोई आया, उसे ये अनुपम वस्तुएँ उपहार में मिली।' हम इसका समर्थन करने मे असमर्थ है, और हमारा विचार है कि

पक्षपात छोड़कर विचार करने वाले सभी व्यक्ति हमारे साथ सहमत होंगे। रोम का व्यापार विशेषतया गुलामों का व्यापार था, उसकी नीति भेद-नीति, फूट डाल कर शासन करना (बन्दर-बाट) था, उसकी सुव्य-वस्था का आधार सैनिक-व्यवहार, दमन और हिंसा थी। इन बातों का विशेष विचार आगे किया जायगा। हमारा यह कथन नहीं है कि रोम साम्राज्य सर्वथा दुर्गुणों की ही खान था। कुछ विशेष गुणों के बिना तो साम्राज्य जैसी संस्था का निर्माण ही नहीं हो पाता। हमारा वक्तव्य केवल यह है कि हम उसे उस श्रद्धा का अधिकारी नहीं मानते, जो उसे अधिकांश योरपीय इतिहास लेखक प्रदान करते हैं।

अस्तु, अब हम इस साम्राज्य के पतन पर विचार करें।

स्थूल दृष्टि से यही प्रतीत होता है कि इस साम्राज्य का पश्चिमी भाग बर्बर (जंगली) जातियों के, तथा पूर्वी भाग तुर्कों के, आक्रमण से विध्वंस हुआ। और, इसमें सन्देह भी नहीं कि प्रत्यक्ष या अन्तिम कारण बहुत-कुछ यही है। किन्तु क्या यह प्रश्न उपस्थित नहीं होता कि सीज़र जैसे विजेताओं को पैदा करने वाली जाति इन आक्रमण-कारियों से क्यों हार गयी। आवश्यकता है कि हम इस विषय पर गम्भीरता से विचार करें।

साम्राज्य के ह्रास का एक मुख्य कारण भेद-भाव था। पहले जाति भेद की बात लीजिए। रोम वाले अति प्राचीन काल से दो दलों में विभक्त थे— पेट्रिशियन और प्लेबियन। 'पेट्रिशियन' उन लोगों को कहा जाता था, जो रोम में पहले आकर बसे थे, इनके पास अपनी भूमि

थी, और ये अपने को प्लेबियन (सर्व साधारण) लोगों से श्रेष्ठ समझते थे, जो रोम में पीछे व्यापार के कारण अथवा युद्ध में कैदी होकर आये। सुदीर्घ काल तक, प्रजातन्त्र की स्थापना हो जाने पर भी, राज-कार्य में पेट्रिशियनों का ही आधिपत्य रहा। बड़े संघर्ष और आन्दोलन के बाद, प्लेबियनों को कुछ राजनैतिक अधिकार दिया गया।

कुछ समय बाद इस भेद-भाव ने नया स्वरूप ग्रहण किया। रोम की साम्राज्य-लिप्सा धीरे बढ़ने लगी। उसने अन्य भागों को विजय करना आरम्भ किया। विजित देश में कुछ रोम वाले बस जाते, और वहां कुछ भूमि पर अधिकार कर, उसे रोम का उपनिवेश बना लेते। इन विजित भू-भागों से रोम में असंख्य धन और सहस्रों गुलाम आने लगे। रोम निवासी अब विलासिता और ऐश्वर्य का जीवन बिताने लगे, उन्होंने कष्ट-सहिष्णुता और परिश्रम का परित्याग कर दिया। राज्य में धनवानों की प्रभुता हो गयी, ये अपने धन और भूमि को अधिकाधिक बढ़ाने के व्यापार व्यवसाय करने लगे। अन्नादि खाद्य पदार्थ विजित देशों से आने लगा। बस, गरीब किसानो को साम्राज्य-वृद्धि के लिए युद्धों में जाकर अपने प्राण गंवाने या धनवानों की नौकरी में रहने का काम रह गया। इस प्रकार दासों के अतिरिक्त, रोम में धनवानों और निर्धनों के दो स्पष्ट भेद हो गये।

धनवान आदमी थोड़े से थे, उन्हें भोग विलास के सब साधन प्राप्त थे। उनके रहने, के विशाल भवन थे, उनमें सोने-बैठने, मनोरंजन आदि के लिए पृथक्-पृथक् स्थान था। बहुधा एक एक आदमी के

पास कई-कई मकान भिन्न-भिन्न रुचि और ऋतुओं के अनुकूल थे; कोई पहाड़ी पर, कोई नदी के किनारे, कोई समुद्र तट पर। मकानों को आवश्यकतानुसार गरमी पहुँचाने का आयोजन रहता था। ठंडे और गर्म जल के स्नानागार संगमरमर के होते थे। बैठने और सोने के कमरे सुगंधित पुष्पों, तेलों तथा इतर से सुवासित रहते थे। उनके भोजन के लिए समय-समय पर षटरस भोजन तैयार थे, उनके घूमने-फिरने के लिए बहुमूल्य सवारियों का आयोजन था। इसके विपरीत, अनेक निर्धन किसानों के पास—जिनकी राज्य में बहुत बड़ी संख्या थी—अपनी कुछ भी ज़मीन नहीं थी, घर-बार नहीं था, दो समय पेट भरने को रूखा-सूखा भोजन भी नहीं था। हजरत ईसा और उनके अनुयाइयों ने इस, गरीबों का रक्त चूसने वाली, सभ्यता का विरोध किया। कुछ अन्य विचारशील सुधारको ने किसानों को उनके निर्वाह-योग्य भूमि दी जाने के लिए प्रयत्न किया। इनकी युक्तिया अकाट्य थीं, पर बहुत समय तक इन्हें दूसरों की केवल मौखिक सहानुभूति मिली; धनवानों का कठोर हृदय जल्दी पसीजने वाला न था। उनकी पीठ पर शासकों का हाथ था, और वे स्वयं भी कानून बनाने वाले थे। साम्राज्य के गरीबों और अमीरों के बीच की खाई न पट सकी। प्राय. सभी साम्राज्यों के लिए यह खाई अलंघ्य होती है।

रोम साम्राज्य के क्षय होने में गुलामी (दास प्रथा) का भी बड़ा भाग है। बात यह है कि रोम के सामाजिक जीवन का आधार ही यह प्रथा थी। यहा के सेनानायक विजित देशों से सहस्रों आदमियों,

स्त्रियों और बच्चों को बन्दी बनाकर लाया करते थे। इनमें से कुछ सरकारी कार्यों के लिए रखे जाकर शेष, भेड़-बकरियों की तरह खास-खास बाज़ारों में बेचे जाते थे, और गुलाम का जीवन बिताते थे। जो व्यक्ति किसी का ऋण नहीं चुका सकता था, वह अपने महाजन का गुलाम हो जाता था। स्वतन्त्र नागरिकों को अपनी सन्तान बेचने का अधिकार था, जो मोल लेने वालों की गुलाम होती थी। निदान, गुलाम कई प्रकार के होते थे। कुछ दास अपने धनी मालिकों के घरों में उन्हें नहलाने धुलाने आदि की सेवा करते थे, अथवा, शिक्षित होने की दशा में—जैसे कि यूनान से आये हुए गुलाम होते थे—अपने मालिक या उनके बालकों को पढ़ाते भी थे।

इनमें से जो व्यक्ति सौभाग्य से किसी अच्छे दयालू स्वामी से सम्बन्धित हो जाते थे, उनका जीवन सुख से कट जाता था, उनसे परिवार के सदस्यों की भांति व्यवहार होता था। पर यह मालिक की प्रकृति पर निर्भर था, अन्यथा कानून की दृष्टि से मालिक को उन पर पूर्ण अधिकार था, वह चाहे तो उन्हें मारे-पीटे भूखा रखे, अपने घर के भीतर कैद कर दे, प्राण तक अपहरण कर ले, उसके विरुद्ध कोई शिकायत नहीं हो सकती थी। कानून द्वारा इस प्रकार अरक्षित रहने का विशेष कष्ट अनुभव उन अधिकांश दासों को करना पड़ता था जो खेती आदि के परिश्रम-साध्य कार्य करने के लिए मोल लिये जाते थे। इन अभागों के कष्टों का कुछ अन्त न था। इनके काम की देख-भाल के लिए जमींदार या साहूकार

लोग कुछ कारिन्दे रखते थे। ये कारिन्दे दासों से अत्यन्त निष्ठुरता का व्यवहार करते थे, बात-बात में कोड़े मारना साधारण बात थी। गुलाम कहीं भाग न जायँ, इस विचार से उन पर गरम लोहे से विशेष चिन्ह दाग दिया जाता था, और काम करते समय उन्हें ज़ंजीरों से बाँध कर रखा जाता था। फिर भी, नाना प्रकार के कष्टों से दुखी होते हुए, कुछ दास अवसर पाकर भाग निकलते थे। ये जब पकड़े जाते थे, तो इन्हें जंगली जानवरों से कटवाया जाता था, या अन्य प्रकार से प्राण दड दिया जाता था। स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट दिखलायी देने वाले कुछ दासों को दूसरे प्रकार की यातनाए भोगनी पड़ती थीं। इन्हें धनवान अपने मनोरजन के लिए रखते थे। इन्हें पटेबाजी की शिक्षा दी जाती थी, और सार्वजनिक उत्सवों या खेल-तमाशों के अवसर पर ये आपस में तलवार भाले आदि घातक अस्त्रों से लड़ते थे। अपने प्रतिद्वन्दी को केवल जख्मी करने वाला नहीं, जान से मार डालने वाला दास विजयी समझा जाता था। कभी-कभी निहत्थे दास का, शेर चीते आदि भयानक जगली जानवर से भी द्वन्द-युद्ध कराया जाता था।

प्रतिद्वन्दी के अस्त्रों से, अथवा जंगली जानवर के दातों और पंजों आदि से, बार-बार जख्मी होने पर भी दास से यह आशा की जाती थी कि वह गम्भीरता का प्रदर्शन करे, उसके मुंह से आह तक न निकले! आँसू बहाने या चिल्लाने की तो बात ही क्या! अस्तु, ये क्रूरताएँ करायी जाती थी, धनवानों अमीरों तथा अन्य दर्शकों के

मनोरजन के लिए ! ऐसे खेल-तमाशे रोम के शासकों की ओर से भी कराये जाते थे, विशेषतया जब कोई सेनाध्यक्ष किसी प्रदेश को जीत कर रोम की राजधानी में प्रवेश करता था। आह ! कैसी सभ्य, शिक्षित और धर्म भीरू थी, वह रोमन जनता, जिसके मनोविनोद के लिए ये हत्याकाड कराना अनिवार्य समझा जाता था ! और जब राज्य के नागरिक, स्त्रियों को भी दास बना कर रखते हों, तो उनका सदाचार और गार्हस्थ जीवन कब पवित्र रह सकता है !

धीरे-धीरे समय ने पलटा खाया। अनेक दासों को इस निष्ठुर व्यवहार के प्रति असंतोष होने पर वे सगठित रूप से इस प्रथा का विरोध करने, और इसके समर्थकों के विरुद्ध खड़े होने, लगे। यद्यपि आरम्भ मे बहुत समय तक उन्हें सफलता न मिली, पर इसका प्रभाव सामाजिक स्थिति पर पड़ा ही। दासों की दशा में क्रमशः सुधार होने लगा। कुछ दार्शनिकों ने भी दासों के प्रति होने वाले व्यवहार को निन्द्य ठहराया और जनता में उनके प्रति सहानुभूति के भाव पैदा किये। विविध सुधारकों के प्रयत्नों के फल-स्वरूप उनकी दशा में क्रमश· सुधार हुआ। कुछ दासों को कुछ समय के लिए मताधिकार भी प्राप्त हुआ। पर उन्हें शासन सम्बन्धी पद तो दिये ही नहीं गये। सेना में भरती होने के अधिकार से भी वे सहस्रों वर्ष वंचित रहे। हां, जब रोम वाले विलासी एवं निर्बल हो गये तो राज्य को दासों के लिए सेना-प्रवेश का मार्ग क्रमशः प्रशस्त करना पड़ा।

परन्तु यह तो मजबूरी को बात थी, इसमे हृदय की उदारता न थी !

ईसाई धर्म के प्रचार ने, और उसके इस उपदेश ने भी कि 'ईश्वर की दृष्टि में सब मनुष्य समान हैं' दासों की दशा सुधारने मे सहायता दी। अपनी तत्कालीन परिस्थिति का विचार करके ईसाई सस्थाएँ इस बात का प्रचार करने का साहस नहीं कर सकती थीं कि दासों को राजनैतिक अधिकार अन्य नागरिकों के समान मिलने चाहिएँ इसके अतिरिक्त, जब रोम साम्राज्य का विस्तार काफी हो गया, तथा और विजय होनी प्राय: बन्द हो गयी तो विदेशों से युद्ध के बन्दी होकर आने वाले दासों में भी कमी हो जाना स्वाभाविक था। अब दास महँगे हो गये, और इससे मालिकों का उनके प्रति मनमाना अत्याचार न रहा।

पर इस समय एक दूसरी बात पैदा हो गयी। बाहर से अन्न आदि की आयात कम होने तथा अन्य कारणों से रोम में कृषि व्यवसाय आदि की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। कृषि-कार्य अधिकतर दासों के ही हिस्से मे आया। जो निर्धन लोग लगान देकर जमीदारों से जमीन लेते थे, उन्हें भी भू-स्वामी की अधीनता में रहना पड़ता था। ये उसके खेतों में बेगार आदि करते थे, इन्हें कोई नागरिक अधिकार न होता था। विवाह-शादी आदि सामाजिक कार्यों में भी ये पूर्ण स्वतंत्र न थे। इस प्रकार युद्ध में बन्दी बना कर लाये हुए तथा अन्य प्रकार बने हुए दासों की जगह अब किसान दास होने लगे।

अस्तु, रूपान्तर हो जाने पर भी रोम-साम्राज्य में दासता तो रही ही।

दासता का परिणाम नागरिकों पर कैसा पड़ा, इसकी कल्पना की जा सकती है। प्रत्येक परिवार में दासों की संख्या आवश्यकता से कहीं अधिक थी। प्रत्येक नागरिक के पास दो-दो तीन-तीन तथा इस से भी अधिक दास होने की दशा में, नागरिकों को कुछ काम-काज करने की जरूरत ही नहीं रहती थी; वे निर्बल, सुकुमार और निस्तेज हों तो क्या आश्चर्य! साम्राज्य-संचालन के लिए ऐसे व्यक्ति नितान्त अयोग्य होते हैं, रोमन भी अयोग्य प्रमाणित हुए। उनकी सैनिक शक्ति क्षीण होने की बात पहले कही जा चुकी है। सैनिकों के वेतनादि देने तथा सम्राटों और अन्य पदाधिकारियों के ठाठ-बाट का खर्च चलाने के लिए प्रजा पर नाना प्रकार के करों का भार लादा गया। ये कर बहुत सख्ती से वसूल किये जाते थे, और इनका अधिकतर भार भी धनी और प्रतिष्ठित लोगों पर न पड़कर सर्वसाधारण निर्धन जनता पर पड़ता था। उनके कष्ट बढ़ने लगे। असंतोष की भावना जाग्रत हुई। साम्राज्य का वास्तविक और स्थायी बल जनता का सन्तोष और भक्ति होती है; उसके अभाव अथवा न्यूनता ने अब साम्राज्य को निर्बल करने में सहायता दी।

ईसाई धर्म साम्राज्य का राज-धर्म घोषित होने की बात पहले कही गयी है। इस धर्म का साम्राज्य पर क्या प्रभाव पड़ा? विशेष-

तथा सैनिक साम्राज्यों के निर्माण तथा उनकी स्थिरता और वृद्धि के लिए युद्ध और नर-संहार आवश्यक होता है, यह कार्य एक प्रकार से धार्मिक मनोवृत्ति के विरुद्ध है, दूसरे शब्दों में धर्म सैनिक साम्राज्यों के पतन मे सहायक होता है। सुप्रसिद्ध इतिहास-लेखक गिवन रोम साम्राज्य के पतन के विषय में विचार करता हुआ कहता है कि "ईसाई मत के प्रचार का, या कम से कम इसके दुरुपयोग का, भी कुछ प्रभाव पड़ा। पादरी लोग संतोष और भीरुता के सिद्धान्त का उपदेश करते थे, और समाज के साहसात्मक गुणों के प्रति लोगों को निरुत्साहित करते थे। सैनिक भावना का बचा-खुचा अंश गिरजाघरों के अर्पित हो गया, तथा व्यक्तिगत और सार्वजनिक सम्पत्ति का बड़ा भाग दान-धर्म मे लगा। धर्म के साथ, राज्य में मत-भेद बढ़ चले। और, सम्राटों का ध्यान सेना की ओर से हटकर गिरजाघरों की ओर चला गया; रोमन संसार नये अत्याचारों का शिकार हुआ, और पीड़ित-वर्ग के आदमी देश के गुप्त शत्रु बन गये।"

अब थोड़ा विचार रोमन कानून और शासन-पद्धति का किया जाय, ये पाश्चात्य राष्ट्रों में बहुत मान्य हैं, अनेक राज्यों ने इनके आदर्श पर अपने यहाँ की व्यावस्था की है; हाँ, पीछे परिस्थिति और आवश्यकतानुसार उनमें परिवर्तन होता रहा है। रोम वालों ने ईसा पूर्व पाचवीं शताब्दी में अपने राज्य के लिए बारह कायदों का विधान बनाया, यह प्रसिद्ध है। यद्यपि इन कायदों की ऐसी बात कि "पिता का अपने पुत्र पर पूर्ण अधिकार है, वह उसे स्वेच्छानुसार

बेच सकता है तथा प्राण दंड दे सकता है" आज-कल के समय में निन्द्य मानी जाती है, तथापि उस प्राचीन-काल में रोम ने लिखित नियम बनाये, यह बात पाश्चात्य देशों में उसे गुरु-पद प्रदान करने के लिए पर्याप्त है। रोम वालों ने अपने विजित देशों के लिए 'जस जेन्शियम' नामक कायदे बनाये। इनमें उन्होंने उनके आदमियों को रोमन नागरिकों जैसे अधिकार न दिये, और इस प्रकार भेद-भाव तथा अपनी महत्ता दर्शायी। हाँ, इससे रोमन शासकों को वहाँ स्वेच्छाचार करने का अवसर कम रहा। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए रोम की प्रान्तीय शासन-पद्धति सदोष न थी। रोम साम्राज्य का एक-एक भाग (प्रान्त) एक-एक गवर्नर के अधीन होता था, जो साम्राज्य को निर्धारित वार्षिक लगान देना स्वीकार कर लेता था। फिर गवर्नर अपने प्रान्त से यथेष्ट आय कर सकता था, और उसका कुछ भाग वहाँ खर्च करके शेष से अपने आपको अधिकाधिक धनवान बना सकता था। यह पद्धति स्पष्टतः दूषित थी। लोभी आदमी रोम को अधिक धन देने की प्रतिज्ञा कर, प्रान्तों की गवर्नरी का ठेका प्राप्त कर लेते थे, और ये जब अपने शासन-काल के बाद रोम वापिस आते थे तो बहुधा अपने धन और शक्ति का दुरुपयोग करके रोम के शासन को कलुषित करने में भाग लेते थे।

रोम वालों की साम्राज्य-शासन-व्यवस्था का आधार भेद-नीति थी, जैसा कि प्रायः प्रत्येक कुशल विजेता की होती है। रोम विजित जातियों को परस्पर में सम्बन्ध रखने, और इस प्रकार अपनी शक्ति

बढ़ाने की अनुमति नहीं देता था। प्रत्येक जाति पृथक्-पृथक् रोम के अधीन होती थी, प्राय: उनके आदमियों को हथियार रखने का अधिकार नहीं दिया जाता था। विजित देश में रोम वालों की, उपयुक्त स्थान में छावनी या उपनिवेश रहता था, जिससे वहा के आदमियों का नियंत्रण करने तथा उन पर अपने आचार व्यवहार का प्रभाव डालने में सुविधा हो। रोम वाले प्रत्येक विजित देश में बड़ी-बड़ी सड़कें बनवाते थे, इससे लोगों को आमदरफ्त और व्यापार आदि की सुविधा होती, पर इसमें साम्राज्य की दृष्टि से यह लाभ लक्ष्य में रखा जाता था कि युद्ध का प्रसंग आने पर सेना आसानी से और जल्दी ही आ-जा सके। इस प्रकार रोम ने उन्हें निर्बल और आत्म-रक्षा के साधनों से वंचित करके रखा। साम्राज्य का प्रत्येक भाग अपनी रक्षा के लिए रोमन सेनाओं के आश्रित था।

रोम को आशंका थी कि यदि विजित प्रदेश को हथियार रखने और अपनी राष्ट्रीय सेना संगठित करने दिया जायगा, तो न-मालूम वह कब हाथ से निकल जाय। परन्तु रोम वालों ने कभी यह न सोचा—और, अपने अहंकार-मद में ऐसी बात सोचता ही कौन है—कि कभी हम पर ही संकट आगया तो ये प्रान्त जो स्वय निर्बल और परावलम्बी हैं, हमारी सहायता कैसे कर सकेंगे। रोम ने इन प्रान्तों को कायदे-कानून के शिकजे में कसकर विकसित होने का अवसर ही नहीं दिया था, अपना प्राबल्य बनाये रखने के लिए उसने इनका भरसक दमन किया था। आखिर, परीक्षा का समय

आया, विजातियों ने इन पर तथा रोम पर आक्रमण किया। रोम उस समय अपनी ही चिन्ता में निमग्न रहने के कारण इन प्रान्तों की क्या रक्षा कर सकता था। प्रान्त तो साम्राज्य-सेवा के योग्य रहने ही नहीं दिये गये थे। बस, साम्राज्य का एक-एक अग दूसरों के अधिकार में जाता रहा, और स्वयं साम्राज्य का हृदय (रोम) ही दूसरों के अधीन हो गया। सब साम्राज्य खंड-खंड होकर नष्ट हो गया।

वास्तव मे अन्य देशों की विजय ने रोम वालों को वड़ा मदोन्मत्त कर दिया था। जब कभी कोई सेना-नायक किसी बड़ी विजय के पश्चात् रोम लौटता तो उसके उपलक्ष में न केवल आनन्दोत्सव होता वरन् पराजित नेता को वड़े अपमान-पूर्वक नगर मे से निकाला जाता; कभी कभी उसे विजेता के रथ के पीछे बाध दिया जाता; अथवा उसे, उसके बाल बच्चों सहित, पैदल चलाया जाता, सर्व साधारण उसे देख कर उसकी हँसी उड़ाते और तरह-तरह से उसकी दुर्गति करते। ये बातें इस बात का प्रमाण है कि रोम वाले अपने विपक्षियों की वीरता, स्वतंत्रता आदि गुणों का आदर करना भूल गये थे। उनके, शत्रुओं से किये जाने वाले व्यवहार से, उनकी अनुदारता और क्षुद्र-हृदयता ही सूचित होती थी। रोमन जाति अहंकार और दमन की पालक पोषक बन गयी। सम्राटों का रोम अधिकार-लिप्सा, सत्तावाद और निरंकुशता द्वारा कुचला गया। अपने विविध नैतिक दुर्गुणों से साम्राज्य ने दूसरों का गला घोटते-घोटते अन्त में स्वयं अपनी ऐहिक लीला पूरी कर दी।

तेरहवाँ अध्याय

सेरेसन और तुर्क साम्राज्य

जब कोई उजड़ा हुआ गुलशन नजर आया हमें ।
फिर गया नक्शा निगाहों में दिले-बरबाद का ॥

—मौलाना आरिफ

इतिहास के इस युग में सब से ज्यादह उल्लेखनीय चीज यह दिखायी देती है कि 'अरब के मुसलमान बड़े सहनशील होते थे, और योरप के ईसाई बेहद असहनशील । ·· ···धन और साम्राज्य की वजह से अरबों में विलासिता, खेल-कूद, और ऐशोअशरत के तौर तरीकों का जन्म हुआ ।

—जवाहरलाल नेहरू

'जो चढ़ा है, वह गिरेगा; जो गिरा है, वह चढेगा' यह कहावत तुर्की साम्राज्य के सम्बन्ध में जितनी चरितार्थ होती है, उतनी और किसी साम्राज्य के सम्बन्ध में भी चरितार्थ होती हो, इसमें हमें सन्देह है ।

—रुद्रनारायण अग्रवाल

अरब वालों ने अब से तीन हजार वर्ष पहले भी अच्छी सभ्यता प्राप्त कर ली थी; परन्तु पीछे इन्होंने समय के बहुत उतार चढ़ाव देखे । आखिर, ईसा की सातवीं सदी तथा उसके बाद में इन्होंने ऐसे महान साम्राज्य की स्थापना की, जिसके अन्तर्गत एशिया, योरप, और अफरीका महाद्वीपों की बड़ी-बड़ी और उन्नत जातिया थीं । मुसलिम खलीफाओं के शासन-काल में कारडोवा (स्पेन) बगदाद (ईरान), और दमश्क

(शाम) बखार की भव्य राजधानियों में थे। इस साम्राज्य के समय की विकसित सभ्यता में कितनी ही बातें आधुनिक योरप के विज्ञान और तत्वज्ञान की नींव डालने वाली थीं।

अरब का उत्तर और मध्य भाग अफ्रीका के सहरा का, और दक्षिण भाग (यमन) सूडान का सिलसिला कहा जा सकता है। आब-हवा गर्म और शुष्क है, नदियों और झीलों का अभाव है। तथापि अरब की समस्त भूमि वीरान नहीं है; विशेषतया किनारों पर पश्चिम, दक्षिण और दक्षिण-पूर्व में भूमि उपजाऊ भी है। यमन में, प्राचीन काल में अच्छी जन-संख्या रही है, और यहां मौसमी हवाओं से वर्षा होने के कारण, यह अन्य भागों की अपेक्षा अधिक उत्पादक है।

अरब-निवासी अति प्राचीन काल से स्वाधीनता-प्रेमी रहे हैं। उन्हें, कठोर भूमि पर सोने, मरुभूमि की गर्मी सहने, कई-कई दिन तक अत्यल्प भोजन और विश्राम करने के अभ्यस्त होने, के कारण स्वास्थ्य और शक्ति स्वभावतः प्राप्त रहती है। यह जाति स्वाधीन और स्वावलम्बी रही है। सिकन्दर के आगमन के समय जबकि कितनी ही जातियों ने उसके आक्रमणों से बचने के लिए उसके प्रति सहज ही आत्म-समर्पण कर दिया था, अरब वालों ने उसको कुछ महत्त्व ही नहीं दिया; ये स्वाभिमान-पूर्वक अलग खड़े रहे।

अरब लोग 'काबे' को बहुत मानते थे। मक्के के इस पुराने मंदिर में एक काला पत्थर रखा हुआ है, यह बहुत पवित्र समझा

जाता था। इसके, तथा अन्य मूर्तियों के दर्शन के लिए दूर-दूर से अरब वाले मक्का की यात्रा किया करते थे। यहाँ नाना प्रकार की बहुमूल्य भेंट चढ़ायी जाती थीं, और इसलिए प्रधान जातियों में इस पर अधिकार जमाने के सम्बन्ध में प्रतिद्वन्द्विता होती थी। पांचवीं शताब्दी के आरम्भ में कुरेश जाति के सरदारों ने इस मन्दिर पर स्थायी अधिकार कर लिया। ये लोग व्यापार आदि से भी बहुत धनवान और प्रभुतावान हो गये। सन् ५६९ ई० में, कुरेश वंश में, और, मक्का नगर में ही, मुहम्मद, साहब का जन्म हुआ।

उस समय अरब की जातियों में बहुत कलह और फूट थी, वे आपस में लड़ते-झगड़ते थे, और बहुत-सी सामाजिक कुरीतियों के शिकार थे। उनमें अज्ञान का बड़ा अन्धकार छाया हुआ था। मोहम्मद साहब का मत स्वीकार करने पर उनमें अद्भुत एकता और उत्साह का संचार हो गया। जब मुहम्मद साहब की आयु चालीस वर्ष की थी, तो स्वप्न में ऐसा प्रतीत हुआ कि देवदूतों ने इन्हें धर्म प्रचार के लिए आज्ञा दी है। इन्होंने बड़ा साहस करके तथा चारों तरफ की कठिनाइयां सहकर इस्लाम धर्म का प्रचार, मूर्ति-पूजा का खंडन, तथा कई सामाजिक कुरीतियों का निवारण किया। परन्तु क्रमशः इनका विरोध होने लगा, और विरोधियों की ज्यादतियां बढ़ती ही गयीं। आखिर सन् ६२२ ई० में इन्हे मक्का से भाग कर मदीना जाना पड़ा। इसी घटना के समय से मुसलमानों का 'हिजरी' संवत् आरम्भ होता है। 'हिजरत' का अर्थ एक स्थान से दूसरे स्थान जाना

है। मदीना ने मुहम्मद साहब का स्वागत किया। अब मक्का और मदीना में युद्ध छिड़ गया, जो छः वर्ष तक रहा। अन्ततः मुहम्मद साहब के पक्ष की विजय हुई, और ये विजयी होकर मक्का आये। सन् ६३२ ई० में आपका देहान्त हुआ, उस समय तक अरब के सरदार आपके भक्त और अनुयायी हो गये थे।

अरब के आदमी सेरेसन भी कहे जाते थे। 'सेरेसन' का अर्थ है, 'रेगिस्तान का आदमी।' सेरेसनों ने इसलाम धर्म ग्रहण करने के बाद इस धर्म को चारों दिशाओं में फैलाना अपना कर्तव्य समझा। उस समय की दृष्टि से इसलाम में जो उदारता और श्रेष्टता थी, उससे इसके प्रचार में बड़ी सहायता मिली। इसलाम से अरब में एकता स्थापित हो गयी, और यह संसार के सामने एक नयी शक्ति के रूप में उपस्थित हुआ। अरब वालों में नये जीवन और अपूर्व साहस का संचार हो गया। वे एक विशाल साम्राज्य के संस्थापक बन गये।

जब अरब ने मुहम्मद साहब की प्रभुता मान ली और एकता प्राप्त कर ली, तो उन्होंने तथा उनके अनुयाइयों ने आस-पास के देशों में अपनी शक्ति का विस्तार करना आरम्भ किया। यहा पर हमें मुहम्मद साहब की नीति समझ लेनी चाहिए। ये धार्मिक स्वतंत्रता के समर्थक और प्रचारक थे। ये अन्य-धर्म वालों से किसी प्रकार का द्वेष या शत्रुता नहीं करते थे; केवल यह चाहते थे कि जहा-कहीं ये या इनके अनुयायी जायँ, कोई इनके प्रचार

में बाधक न हो। जहा इन्हें स्वतत्रता-पूर्वक अपने धर्म का प्रचार नहीं करने दिया गया, जहा इनके मार्ग में बाधाएँ उपस्थित की गयीं, या इनके मतानुयाइयों पर कुछ अत्याचार हुआ, वहाँ इन्हों ने डट कर मुकाबिला किया, और आवश्यकता होने पर तलवार का भी उपयोग किया। अन्यथा, इनके राज्य में, दूसरे धर्म वाले भी मजे से रह सकते थे, ये उनके धार्मिक कृत्यों में हस्तक्षेप न करते थे। प्रायः इनकी मुख्य बातें सीधी-सादी थीं; ईश्वर एक है, और मुहम्मद उस-का दूत या पैगम्बर है। क्योंकि अनेक स्थानों में ईसाई धर्म और जरदुश्त धर्म आदि का स्वरूप बहुत बिगड़ा हुआ था, धार्मिक कट्टरता फैली हुई थी, लोगों को इसलाम के भ्रातृ-भाव और प्रजातत्र की बात बहुत आकर्षक प्रतीत हुई। जनता ने बड़े चाव से इस धर्म का स्वागत किया। परन्तु सत्ताधारी बादशाहों और महन्तों या धर्माध्यक्षों ने इसका प्रबल विरोध किया।

मुहम्मद साहब ने अपना धार्मिक सदेश कुस्तुनतुनिया, और ईरान तथा चीन के सम्राटों के पास भी भेजा। ये बड़े-बड़े शासक हैरान थे कि यह कौन व्यक्ति है, जो उनके पास संदेश या आदेश भेजने का साहस करता है। अस्तु, यह स्पष्ट है कि मुहम्मद साहब को अपने कथन में अटल विश्वास था, और वे संसार भर में अपने विचारों का प्रचार करना, अपना महान कर्तव्य समझते थे। उन्हों ने इसे अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था। तभी तो इसलाम धर्म का इतना प्रचार हो सका। किसी भी सिद्धान्त या वाद का विशेष प्रचार

तभी हो सकता है, जब उसके प्रचारक को उसमें पूर्ण श्रद्धा हो। जो स्वयं संदेह में रहते है, अंधेरे में टटोलते हैं, वे दूसरों का सफलतापूर्वक नेतृत्व नहीं कर सकते। दूसरों का पथ-प्रदर्शक वही हो सकता है, जिसके मन में और हृदय में यथेष्ट प्रकाश हो।

मुहम्मद साहब के उत्तराधिकारी धर्माध्यक्षों को 'खलीफ़ा' कहा जाता है। ये ऐहिक और पारलौकिक दोनों शक्तियों से युक्त थे, ये धर्माध्यक्ष भी थे, और इन्हें राजनैतिक प्रभुता भी प्राप्त थी। मुहम्मद साहब के देहान्त के सात वर्ष के भीतर, अर्थात् सन् ६३९ ई० तक ही, रोम सम्राज्य के प्रान्तों में से शाम (सीरिया) और मिश्र जीत लिये गये। इस प्रकार एँटियाक, सिकन्द्रिया (ऐलेग्जेंड्रिया) के प्रसिद्ध नगर, तथा ईसा मसीह की जन्म-भूमि और ईसाइयों का पवित्र तीर्थ-स्थान जेरुसलम, रोम साम्राज्य से निकल गये। अफ्रीका के, मिश्र के अतिरिक्त, अन्य भागों में, सन् ६४७ में आक्रमण आरम्भ हुए, परन्तु कार्थेज ६९८ तक न लिया जा सका, और तमाम उत्तरी प्रदेशों पर तो सन् ७०९ ई० में जाकर आधिपत्य हुआ। उपर्युक्त सब विजित भागों से रोम के राज्य तथा सभ्यता के चिन्ह शीघ्र ही विलुप्त हो गये।

इधर सेरेसन ईरान के खूब साम्राज्य पर भी बड़े उत्साह से आक्रमण कर रहे थे। सन् ६३२ से ६५१ ई० तक यह तमाम राज्य जीत लिया गया, धीरे-धीरे ईरान मुसलमानों का देश हो चला। सेरेसनों ने फिर उत्तर और पूर्व में सिन्ध (भारत) तथा आक्सस नदी के पार तुर्क-भूमि तक धावा किया। उन में नये धर्म का जोश

था, शीघ्र ही उन्हों ने एक विशाल उदीयमान साम्राज्य स्थापित कर लिया। जैसे रोम-साम्राज्य की स्थापना के कुछ समय बाद वह साम्राज्य तथा उसके अन्तर्गत विविध जातिया प्रायः ईसाई धर्मावलम्बी हो गयीं, वैसे ही जहा-जहा सेरेसनों का राज्य हुआ, वहा-वहा इसलाम धर्म की पताका फहराने लगी, इस धर्म की प्रधानता हो गयी।

अरब वालों ने जिस तेजी और फुर्ती से दूर-दूर तक अपनी विजय वैजयन्ती फहरायी, वह आश्चर्य जनक है। परन्तु तनिक विचार किया जाय तो विदित होगा कि इसमें कुछ भी रहस्य की बात नहीं है। अरब वालों का जीवन बहुत सादा था, उन्हें मुसीबतें और कठिनाइया सहने का अभ्यास था। फिर, उनमें एकता थी; उनमें भिन्न-भिन्न देवी देवताओं की पूजा प्रचलित न होने से, वे धार्मिक भेद-भावों से बचे हुए थे। एक ईश्वर, और एक धर्म की स्वीकृति ने उन्हें सुसंगठित कर दिया। गुलामी की जिस प्रथा ने प्रत्येक साम्राज्य और सभ्यता को कलंकित किया है, उसको उन्होंने मान्य नहीं किया था। उन्होंने दासों पर बहुत दया की, उन्हें पुत्रवत् समझा, और उत्तराधिकारी तक बनाया। इसके विपरीत, जिन भू-भागों पर अरबों ने विजय प्राप्त की वहा के निवासी अमीरी, शान-शौकत और विलासिता में निमग्न थे; अनेक दासों के होने से उनमें शारीरिक श्रम करने की रुचि या क्षमता नहीं रही थी; अथवा वे संगठन-विहीन और बिखरे हुए थे। यही कारण था कि विजय-लक्ष्मी अरब वालों के पक्ष में रही; जिधर वे गये, जयमाला उनके गले को सुशोभित करती रही।

अफ्रीका के उत्तरी प्रदेशों पर अधिकार करने के पश्चात् अरब वालों ने सन् ७१०ई० में मूसा और उनके सहायक तारक के नेतृत्व में, स्पेन पर चढ़ाई की। इस देश को उस समय वंदाल जाति के नाम पर अंदालूसिया कहा जाता था। रोम-साम्राज्य के पतन के बाद वहां वंदाल और पश्चिमी गाथ जाति वाले छाये हुए थे। वे नाम-मात्र के ईसाई थे। मुसलमान विजेताओं के आने के समय, वहां पश्चिमी गाथ शासक, अपनी ज्यादतियों के कारण जनता में नितान्त अप्रिय थे। अतः मुसलमानों को अपने आक्रमणों में यहां यहूदियों से सहानुभूति और सहायता मिली, जो गाथ शासकों के अत्याचारों से दुखी थे। निदान, तीन वर्ष के भीतर लगभग समस्त स्पेन पर अरब वालों का, और उनके साथी अन्य आदमियों का, अधिकार हो गया। यह विजय इतनी महत्व-पूर्ण थी कि खलीफा ने मूसा को जल्दी ही वापिस बुला भेजा; उसे यह आशंका हुई कि कहीं ऐसा न हो कि वह स्पेन का स्वतंत्र बादशाह बन बैठे। मूसा और तारक अपने साथ लूट का अपरिमित द्रव्य तथा बहुत, से कैदी लिये हुए बड़ी शान और धूम-धाम से दमश्क लौटे।

अन्य मानवी तृष्णाओं की भांति विजय-लालसा की भी कोई सीमा नहीं है। स्पेन में इस्लामी पताका फहराने लगी, तो अरब वालों की सेनाएँ फ्रांस की ओर बढ़ीं। फ्रांस का नाम उस समय 'गाल' था। यहां अरबों का काफी विरोध हुआ, फिर भी इन्होंने बोर्डो नगर पर अधिकार कर लिया, और वहां से सन् ७३२ ई० में टूर्स की ओर बढ़

चले, जहा ईसाई गिरजा में अतुल सम्पत्ति संग्रह की हुई थी। इस समय फ्रांस का मुख्य व्यक्ति चार्ल्स था, जो पीछे चार्ल्स मार्टल कहलाया। उसने देश-रक्षा के लिए अधिक-से-अधिक सैनिक एकत्र किये और अरबों को ऐसी करारी हार दी कि फिर उनका योरप विजय का मनसूबा सदैव के लिए जाता रहा। इस घटना से फ्रांस, जर्मनी, और हां, इंगलैंड भी, अरबों के अधिकार में आने से रह गया।

आठवीं शताब्दी के मध्य तक अरब वालों द्वारा विजित विशाल भू-खड, योरप में स्पेन से लेकर, भारत में सिंध तक एक ही शासन में, दमश्क के खलीफा के अधीन रहा। सन् ७५० ई० में खलीफा की राजधानी बगदाद हो गयी। पीछे अरबों में खिलाफत के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में मत-भेद और आन्तरिक झगड़े होने लगे। इससे उनकी अजेय शक्ति अब छिन्न-भिन्न हो गयी।

सन् ७५५ ई० में साम्राज्य विभक्त हो गया, और पीछे फिर कभी एक नहीं हुआ। स्पेन का बादशाह बगदाद के खलीफा की अधीनता से मुक्त होकर, स्वयं एक स्वतन्त्र खलीफा बन गया। उसकी राजधानी कारडोबा थी। इसी प्रकार मिश्र में भी एक पृथक् खलीफा हो गया। भिन्न-भिन्न प्रान्तों के शासक स्वाधीन होने लगे और बहुत से वंशों का। विशेषतया तुर्कों का, उदय हुआ, जो खलीफ़ा का प्रभुत्व नाम-मात्र को मानते थे। मुसलमानों में कई मतों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनमें से कई, एक-दूसरे को धर्म-विरोधी समझते थे। तथापि अधिकतर मुसलमान बगदाद के खलीफ़ा को ही सर्व-प्रधान मानते थे।

बगदाद का सबसे प्रसिद्ध खलीफ़ा हारूँ-उल-रशीद हुआ है। उसने अपने न्याय के लिए बड़ी ख्याति प्राप्त की है। उसने पूर्वी-रोमन साम्राज्य (यूनान) पर आक्रमण किया था, और, कुस्तुनतुनिया की साम्राज्ञी ने ७०,००० स्वर्ण दीनार वार्षिक कर के रूप में देकर उससे मित्रता की संधि की थी। उसने बगदाद को खूब सम्पत्तिमान किया तथा इसे अर्बी भाषा की शिक्षा का एक महान केन्द्र बनाया।

स्पेन के बादशाह के स्वतंत्र खलीफा बन जाने के विषय में ऊपर कहा गया है। इसके विरुद्ध जनता में विद्रोह-भावना जागृत होने से, सन् ७७७ ई० में फ्रांस के बादशाह चार्ल्स महान (शार्लमेन) को स्पेन पर धावा करने का अवसर मिला, पर उसे विशेष सफलता न हुई। अरब लोग स्पेन में आसानी से जम गये। इसके कई कारण थे। इनका शासन पूर्ववर्ती गाथ शासकों की अपेक्षा बहुत अच्छा था। ये करों को स्वेच्छा-पूर्वक न लगा कर नियमित और निस्पक्ष भाव से लगाते थे, प्रजा के धार्मिक भावों के प्रति सहिष्णु थे, और ये उसे उसके नियम और पंच आदि रखने देते थे। दासों के प्रति इनका व्यवहार दया-लुता का था।

कारडोवा (स्पेन) के खलीफ़ाओं में सुलतान अबदुर्रहमान तृतीय का शासन विशेष उल्लेखनीय है। यह बगदाद के हारूँ-उल-रशीद, और देहली के अकबर के समान सुप्रसिद्ध है। इसने स्पेन के आन्तरिक झगड़ों को निपटाया, और सब जातियों के लोगों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया; ईसाइयों के विद्रोहों का दमन किया, और सड़क, पुल,

नहर और जलमार्ग-बनवा कर, तथा शिक्षा, काव्य, विज्ञान, नौका-निर्माण आदि को प्रोत्साहन देकर, देश की खूब उन्नति की। राजधानी में दूर-दूर के देशों के दूत रहते थे, और विदेशी राज्य खलीफा से मित्रता करने के इच्छुक होते थे। कारडोवा का पुस्तकालय और विश्व-विद्यालय अपने समय में पश्चिमी संसार में सुप्रसिद्ध था; दूर-दूर के जिज्ञासु यहा आकर अपनी ज्ञान-पिपासा को शान्त करते थे।

तेरहवीं शताब्दी के समाप्त होने से पूर्व स्पेन में अरबों की शक्ति का बहुत ह्रास हो चला, कारण यह था कि उत्तर के ईसाई राज्यों की शक्ति बहुत बढ़ गयी थी। अन्ततः अरबों के पास स्पेन में केवल ग्रेनाडा रह गया, यहा सन् १४९२ में इसलामी शासन का अन्त हुआ।

सेरेसन साम्राज्य के अन्य भागों पर क्रमशः तुर्कों का अधिकार होता आ रहा था। ग्यारहवीं शताब्दी में ईरान में कई तुर्क-वंशों का प्रादुर्भाव हुआ। सन् १०७१ ई० में सेलजुक तुर्कों ने पूर्वी रोमन सम्राट् को हटाकर उसके समस्त एशियाई प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। फलिस्तीन (पेलस्टाइन) समय-समय पर विविध मुसलिम शक्तियों द्वारा जीता गया।

सन् १०९२ ई० में सेलजुक वंश का राज्य कई भागों में विभक्त हो गया। एक वंश के सुलतान लघु-एशिया में राज्य करते थे, और क्योंकि यह भाग पूर्वी रोमन सम्राट् से जीत कर लिया गया था, इस

वंश के राज्याधिकारी अपने आपको रोम का सुलतान कहने लगे।

इस समय कई बातें ऐसी हो गयीं जिससे ईसाई राज्यों को संगठित होकर, मुसलमानों की शक्ति का ह्रास करने की उत्तेजना हुई। पहली बात तो यही थी कि अब मुसलमानों में एकता न थी, वे भिन्न-भिन्न भागों के पृथक्-पृथक् शासक वंशों में विभक्त थे, इधर पूर्वी रोमन साम्राज्य में कुछ अच्छे वीर शासक हुए। इसके अतिरिक्त, योरप के पश्चिमी देशों में इस बात का खूब प्रचार किया गया कि फलिस्तीन पर तुर्कों का अधिकार होने से, वहा के पवित्र तीर्थ-स्थान जेरूसलम की यात्रा करने वाले ईसाई बहुत कष्ट पाते हैं। धार्मिक भावना वाले ऐसी बातों पर सहज ही विश्वास कर लेते हैं। वे इनकी सत्यता की जाच करने नहीं बैठते, फिर, जर्मनी, फ्रास या इंगलैंड आदि के निवासियों के लिए यह जाँच करना कुछ सहज भी न था। बस, पश्चिमी जातिया इस पवित्र ईसाई तीर्थ को, तथा इस नगर और इसके आस-पास के ईसाइयों को, तुर्कों और मुसलमानों की अधीनता से मुक्त करने के लिए कटिबद्ध हो गयीं। दूर-दूर से, अनेक कष्ट सहते हुए अनेक ईसाई 'क्रूसेड' (धर्मयुद्ध) के लिए जेरूसलम आने लगे। यहाँ आने वालों को अनुभव होता था कि तुर्कों का व्यवहार अच्छा है, उन्हें व्यर्थ बदनाम किया जाता है। दो सौ वर्ष तक, ये यात्राएँ होती रहीं। कुछ आदमी तो पश्चिमी एशिया में बस कर व्यवसाय आदि करने लग जाते, और अपने लिए तथा अन्य बन्धुओं के लिए पूर्वीय देशों के कला-कौशल का ज्ञान और अन्य अनुभव ले जाते। अस्तु, उपर्युक्त

मिथ्या-प्रचार से ईसाइयों को संगठित होने की बहुत प्रेरणा मिली।

सातवीं शताब्दी में सेरेसनों ने, पूर्वी रोमन साम्राज्य के अधीन, पश्चिमी एशियाई प्रदेशों पर, जो विजय प्राप्त की, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। उन्होंने उक्त साम्राज्य की राजधानी कुस्तुनतुनिया पर भी समय-समय पर धावा किया था। यदि वे उसे उस समय जीत लेते तो आज दिन संसार में ईसाई मत और योरपियन सभ्यता का वह स्थान न होता, जो इस समय है। अस्तु, पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य तक यहां इसलामी शासन स्थापित न हो सका; सन् १४५३ ई० में यह प्रदेश उसमानी (आटोमन) नामधारी तुर्कों के अधीन हुआ। क्रमशः इन तुर्कों का साम्राज्य बढ़ता गया।

पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदी में इस साम्राज्य की चन्द्र-चिन्ह वाली विजय-पताका दक्षिण पूर्वी योरप में ही नहीं, पश्चिमी एशिया के कई भागों पर, तथा अफ्रीका के उत्तरी प्रदेशों पर भी फहरा रही थी। अठारहवीं शताब्दी में आस्ट्रिया और रूस ने इसका कुछ हिस्सा ले लिया था, फिर भी यह साम्राज्य काफी बड़ा था।

इस साम्राज्य का ह्रास, विशेषतया उन्नीसवीं सदी से हुआ। पहले सर्विया ने (जो पिछले योरपीय महायुद्ध के बाद यूगोस्लेविया का अंग हो गया) कुछ स्वतंत्रता प्राप्त की। फिर यूनान ने सिर उठाया, योरप की ईसाई जातियों ने उसकी पीठ ठोकी, आखिर इङ्गलैंड, फ्रांस और रूस की सहायता से वह स्वतंत्र हो गया। रूस की नज़रों में उसका पड़ोसी

तुर्क साम्राज्य बहुत समय से खटक ही रहा था। अब उसने इससे कुछ छीनने-झपटने का अच्छा अवसर समझा। रूस में स्लाव जाति के ही आदमी अधिक हैं। उसने तुर्की से कह दिया कि तुम्हारे शासन में जितने भी स्लाव हैं, उनका संरक्षक मैं रहूँगा; तुम तो मुसलमान हो, तुम उनके प्रति ठीक कर्तव्य पालन नहीं करते। तुर्की रूस की ऐसी माग कैसे स्वीकार कर सकता था; यह तो अपने घर में शत्रु की देख-रेख होने देना था। बस, दोनों की लड़ाई ठन गयी। ईसाई होने के नाते, योरपियन राष्ट्रों की सहानुभूति रूस से होनी चाहिए थी, पर स्वार्थ ने धर्म पर विजय पायी। इङ्गलैंड और फ्रांस नहीं चाहते थे, कि रूस की ताकत बहुत बढ़ जाय। इङ्गलैंड ने सोचा कि यदि रूस ने तुर्की पर विजय प्राप्त कर ली, तो भारतवर्ष को जाने का मार्ग उसके अधिकार में हो जाने से, हमारे लिए संकट उपस्थित हो सकता है। फ्रांस तो उसी समय से रूस का अनिष्ट चाह रहा था, जब से उसने नेपोलियन की प्रभुता अस्वीकार की थी, और उसे हराने में भाग लिया था। इटली इङ्गलैंड और फ्रांस से मिल गया; उसे आशा थी कि रूस से इस समय लड़ने से कुछ मिल ही जायगा। अस्तु, तीनों राज्यों ने रूस का विरोध किया। तुर्की हारने से बच गया। पर उसका रूस, से एवं अन्य पड़ोसी राज्यों से, समय-समय युद्ध पर होता ही रहा।

बेचारे तुर्की की बुरी हालत थी। चारों ओर यह शत्रुओं से घिरा था। सब इसे रोगी समझते थे, कुछ इसे मारने की फिकर में थे, दूसरे इसके मरने की प्रतीक्षा करते थे। रूस के ज़ार ने इसी को

ध्यान में रखकर, ब्रिटिश राजदूत से कहा था—'हमारे पड़ोस में एक रोगी है, यह बहुत ज्यादह बीमार है, यह कभी भी मर सकता है।' उस समय से तुर्की 'योरप का मरीज़' प्रसिद्ध हो गया। इसके विरुद्ध कभी एक राज्य खड़ा होता, कभी दूसरा और कई बार तो कई-कई राज्य इकट्ठे होकर एक-साथ इससे लड़ते। इतने विरोधियों के होते हुए, यह साम्राज्य कब तक बना रहता! क्रमशः इसके सब योरपीय भाग स्वतन्त्र हो गये। पिछले योरपीय महायुद्ध के बाद इसे मिश्र, ईराक और अरब से भी हाथ धोना पड़ा। साम्राज्य के अंग-भंग होने में जो देर लगी, उसका कारण यह हुआ कि योरप के राष्ट्रों में पारस्परिक वैमनस्य और प्रतिद्वन्दिता थी। वे इसके बँटवारे में, तथा इसके भागों की नयी व्यवस्था करने में जल्दी सहमत न हो सके। अन्यथा यह साम्राज्य इतने दिन तक रोग-शय्या पर न पड़े रहकर, कभी का मर गया होता।

इस अध्याय में सेरेसन और तुर्क दो साम्राज्यों के सम्बन्ध में में लिखा गया है। अब इनके पतन के कारणों पर कुछ विशेष विचार करना है। पहले सेरेसन साम्राज्य को लें।

सेरेसन साम्राज्य के पतन के सम्बन्ध में मुख्य बात यह है कि मुहम्मद साहब के बाद उनके सादे रहन-सहन का, आदर्श बहुत समय तक न निभ सका। केवल आरम्भ में, तीस वर्ष तक खलीफ़ाओं ने सादगी के नियमों का कठोरता-पूर्वक पालन किया। ये खलीफ़ा यदि चाहते तो सब तरह के सुख-भोग के साधन इन्हें सहज ही

मिल सकते थे। इनकी, विशाल साम्राज्य पर हकूमत थी। परन्तु ये सुख समृद्धि से घृणा करते थे; और तो क्या, न पहिनने को अच्छे कपड़े का उपयोग करते थे, और न भोजन में ही कुछ विशेषता रखते थे। मोटा-झोटा जैसा मिला, उसी से निर्वाह किया। ये समझते थे कि हमारे शासन में कुछ आदमी निर्धन भी तो हैं, हमें उनकी अपेक्षा अधिक सुख या सुविधाएँ पाने का कोई अधिकार नहीं। ये बिल्कुल गरीबी का जीवन व्यतीत करते थे, और, घर-गृहस्थी का साधारण कार्य करने में भी इन्हें कोई संकोच न था। इनका यह साधु-संतों का सा रहन-सहन इनके अधीन प्रान्तीय शासकों को क्या, उनसे भी नीचे दर्जे के अधिकारियों को अच्छा नहीं लगता था। परन्तु वे विवश थे, जब ऊंचा अफसर ही सादगी और गरीबी से रहे, तो उन्हें शान-शौकत रखने, या बाह्य आडम्बर रचने में लज्जा आती थी। अनेक मुल्ला, मौलवी भी इतनी सादगी और कष्ट-सहिष्णुता नापसन्द करते थे। ये सब लोग भीतर ही भीतर अपनी अप्रसन्नता बनाये हुए थे। तीस वर्ष बाद इन्होंने अपनी इच्छानुसार इस ढङ्ग में परिवर्तन कर डाला। अब ये अमीरों और धनी लोगों क-सा जीवन बिताने लगे। फिर तो ऐशो-आराम, बैभव, विलासिता आदि सभी दुर्गुणों की वृद्धि होने लगी, जो किसी भी संस्था के ह्रास का कारण होते हैं, और जो साम्राज्य-संचालन में निश्चित रूप से विघ्न डालते हैं।

साम्राज्य के भिन्न-भिन्न भागों के शासकों की स्वतंत्रता की बात

पहले कही जा चुकी है। जो कर्तव्य-बुद्धि विशाल संगठन का प्राण थी, उसका क्रमशः लोप हुआ; उसका स्थान अधिकार-तृष्णा ने ले लिया। जब किसी संस्था में, विशेषतया महान संस्था में, आदमी अपने-अपने अधिकारों के लिए एक-दूसरे से प्रतिद्वन्दिता करें, घर में ही मत-भेद और फूट हो तो उस संस्था का जीवन शीघ्र समाप्त हो जाना स्वाभाविक ही है।

अब तुर्क साम्राज्य के पतन पर विचार करें। ईसाई इतिहासकारों का कथन है कि इस साम्राज्य में अन्य धर्म वालों पर विशेषतया ईसाइयों पर, बहुत सख्ती और अत्याचार किये जाते थे, अतः विविध ईसाई राज्यों ने मिलकर इसे खड-खड कर दिया। इस सम्बन्ध में हमें यह कहना है कि प्रायः सभी साम्राज्यों के शासकों ने अन्य थोड़ी-बहुत ज्यादतिया की है। जब तक अधीन जातियों का बस नहीं चलता, वे चुप-चाप अत्यचारों को सहती रहती हैं, और मौका मिलते ही सिर उठाने को इच्छुक होती हैं। उन्हें अपने अन्य-देशीय सजातीय बन्धुओं, अथवा समान स्वार्थ रखने वाले लोगों की सहानुभूति भी प्राप्त हो जाती है। पुनः जब कोई राष्ट्र किसी देश पर आक्रमण करना चाहता है तो उसे कोई-न-कोई निमित्त मिल ही सकता है। ईसाई राष्ट्रों को भी, तुर्क साम्राज्य पर आक्रमण करने के लिए, यह एक अच्छा बहाना था कि तुर्कों के शासन में ईसाइयों से सद्व्यवहार नही होता। यह बहाना झूठा था; पर दुनिया ठहरी, यहाँ कई बार झूठी बात ही चल जाती है, और

बहुत असर डालने वाली हो जाती है। हा, तो इस आधार पर ईसाइयों का संगठन हो गया। समय-समय पर कई-कई राज्यों ने अपनी सम्मिलित शक्ति और कूट नीति से इस साम्राज्य का अंग-भंग कर दिया।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि तुर्की शासक भिन्न-भिन्न जातियों, विशेषतया ईसाइयों, के युवक रंगरूटों की भरती किया करते थे। ये 'जानिसारी' कहलाते थे। इनमें से जो बलवान शूरवीर होते थे उन्हें सैनिक बानाया जाता था। इनकी सुशिक्षित सेना सर्वत्र शत्रुओं पर विजयी होती थी। अन्य योग्य व्यक्ति साम्राज्य के अन्य विविध कार्यों का सम्पादन करते थे। इस प्रकार यह युवक दल साम्राज्य की सफलता का एक मुख्य कारण था। पीछे इन सिपाहियों की एक अलग जाति सी ही बन गयी, जिसमें वह शौर्य न था। अन्य देशों में नये रंगरूटों की भरती भी कठिन हो गयी। शासन-कार्य के लिए योग्य कर्मचारियों का भी अभाव हो गया। तुर्कों की आराम-तलबी आदि का उल्लेख ऊपर किया ही जा चुका है। बस, साम्राज्य का भार संभाला जाना तुर्कों के लिए क्रमशः असह्य होता गया।

इस के अतिरिक्त, इस साम्राज्य के पतन का एक विशेष कारण यह भी हुआ कि इसने चारों ओर आधुनिक, औद्योगिक और वैज्ञानिक राष्ट्रों से घिरा रहते भी, अपने पुराने ढर्रे को पकड़े रखा और आत्म-रक्षा के नूतन साधनों से अपने आपको सुसज्जित न किया। संसार में कोई संस्था देश-काल की उपेक्षा करके चिर काल तक जीवित नहीं रह सकती।

चौदहवाँ अध्याय

पवित्र रोमन साम्राज्य

रोम के अधिकार की हद जो भी रही हो, इसके पीछे विश्व-राज्य की भावना थी। और, इस भावना को पश्चिम के उस जमाने के अधिकांश आदमियों ने मंजूर कर लिया था। इसी ख्याल की बुनियाद पर रोमन साम्राज्य इतने दिनों तक जिन्दा रहा। —जवाहरलाल नेहरू

सभ्यता अथवा सभ्य समाज की रक्षा के लिए काम करने का सर्वश्रेष्ठ तरीका यह है कि जनता की रक्षा के लिए काम किया जाय। सभ्यता का भाग्य, जनता के भाग्य पर आश्रित है। —रोम्याँ रोलाँ

मौर्य साम्राज्य का विचार पहले किया जा चुका है, वह एशिया का, विशेषतया भारतवर्ष का, एक धार्मिक साम्राज्य था। अब हम योरप के एक धार्मिक साम्राज्य की बात करते हैं।

प्रत्येक धर्म, कम-से-कम प्रारम्भ में, कुछ अच्छे उपयोगी सिद्धान्तों को लेकर चलता है। योरपीय राष्ट्रों के पारस्परिक तथा विश्वव्यापी युद्धों को दृष्टि में रख कर, लोगों के मन में ईसाई धर्म के प्रति चाहे जैसी भावना हो, यह निर्विवाद है कि इस धर्म ने अपने सामने विश्व-

बन्धुत्व का आदर्श रखा। पहले तो इस धर्म का रोम-साम्राज्य के केन्द्र (रोम) में विरोध ही हुआ। बात यह थी कि रोम वाले विविध देवी-देवताओं को मानते थे, और ईसाई-धर्म एक ईश्वर की पूजा का आदेश करता था। रोम का इस धर्म से विरोध इसलिए भी था कि पुरातन प्रथा के अनुसार, सभी पन्थों के अनुयायी राजा या सम्राट् का पूजन करते थे, अब ईसाई धर्म-प्रचारक ईसा के इस वाक्य का उल्लेख करके कि 'जो राजा का है, वह राजा को दो, और जो ईश्वर का है, वह ईश्वर को दो,' लोगों द्वारा राजा की पूजा-अर्चना निषिद्ध ठहराते थे। यह होते हुए भी, ईसाई धर्म की समता और विश्व-प्रेम की बातें लोगों की समझ में आती गयीं, और वे इस धर्म का स्वागत करने लगे। होते-होते यह धर्म साम्राज्य का राज-धर्म हो गया। रोम के ईसाइयों द्वारा एक धर्म (ईसाई), एक भाषा (लैटिन), और एक कानून (रोमन), का आदर्श अधिकाधिक प्रिय होने लगा। इस प्रकार एकता के भावों से यह स्थिति उत्पन्न हो गयी कि जब आठवीं शताब्दी के अन्त में प्रतापी बलशाली शासक शार्लमेन उनके सामने आया तो धार्मिक और राजनैतिक एकता ने मूर्त स्वरूप धारण कर 'पवित्र रोमन साम्राज्य' की स्थापना करदी।

इस साम्राज्य को 'पवित्र' इसलिए कहा गया कि योरप वालों ने इसे तत्कालीन तथा पूर्वकालीन साम्राज्यों की अपेक्षा श्रेष्ठ समझा, और, इसे गिरजाघर के अधिकार या आशीर्वाद से स्थापित किया गया था; फिर, वह गिरजाघर भी किसी मामूली स्थान का नहीं,

स्वयं रोम का। स्मरण रहे कि प्रायः जनश्रुति के अनुसार, ईसा मसीह का सुप्रसिद्ध शिष्य पीटर रोम आया था, और यहा का विशप बना था। इससे ईसाई इस नगर को बहुत पवित्र मानने लगे, और रोम के विशप का पद बहुत ऊंचा समझा जाने लगा। पीछे, जब सम्राट् कुस्तुनतुनिया चला गया तो उस विशप के पद का महत्व और भी बढ़ गया, कालान्तर में वह पोप कहा जाने लगा। रोम साम्राज्य के पतन के पश्चात् इटली आदि पर उत्तर के आदमियों का शासन और अधिकार रहा, तथपि कुछ समय तक पूर्वीय सम्राटों ने उस प्रदेश को अपने अधीन बनाये रखने का प्रयत्न किया। जब रोम के धर्माध्यक्ष के नाते पोप की शक्ति बढ गयी तो उसने मूर्ति-पूजा के प्रश्न पर रोम को कुस्तुनतुनिया से पृथक् कर दिया। पीछे आक्रमणकारियों से रक्षा करने के लिए पोप ने फ्रैंक (जर्मन) जाति के सरदार से सहायता मांगी, और जब यह सरदार रोम की रक्षा करने में सफल हो गया तो उसे पोप ने राज-मुकुट पहनाया; इस पर वह सम्राट् शार्लमेन या 'चार्लस महान' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

संसार में अनेक वस्तुएं यथा-नाम नहीं होतीं। कितने ही आदमी करोड़ीमल नाम वाले होकर भी अपनी आजीविका के लिए इधर उधर भटकते हैं। और, कितनेही शान्तिस्वरूप वास्तव में शान्ति-युक्त नहीं पाये जाते। ऐसी ही बात इस 'पवित्र रोमन साम्राज्य' के विषय में चरितार्थ होती है। पहले इसके 'पवित्र' विशेषण को लीजिए। जब पोप और सम्राट् के पारस्परिक झगड़े हुए, अथवा पोप के कर्म-

चारियों ने लोगों को बल-पूर्वक कैथलिक बनाने के लिए घृणित और हिन्सक उपायों का अवलम्बन किया, अथवा लोगों से, उनके पापों से मुक्त करने के बहाने नाना प्रकार से रुपया ऐंठ कर अपना वैभव, और ऐश्वर्य बढ़ाया तो उस समय साम्राज्य को पवित्र कहना, मानों पवित्र शब्द का उपहास करना था। इस साम्राज्य को 'रोमन' कहने से इसके अन्तर्गत जिस कायदे-कानून और सुव्यवस्था का आभास होता है, उसकी इसमें बहुत कमी ही रही। सम्राट् न रोमन था, और न रोम में रहने वाला ही था। फिर, सम्राट की सत्ता अनेक बार इतनी कमजोर रही, और माडलिक राजाओं पर उसका नियंत्रण इतना कम रहा कि उसके अधिकृत क्षेत्र को साम्राज्य कहना बहुत उपयुक्त नहीं है। ऐसे ही विचारों से आधुनिक काल के लेखक इस नाम की तर्क-संगतता पर आक्षेप करते हैं। फ्रांस के सुप्रसिद्ध लेखक वालटेयर ने कहा है कि यह साम्राज्य न तो पवित्र था, न रोमन था और न यह साम्राज्य ही था।

किन्तु यह कथन पीछे आने वाली पीढ़ियों की दृष्टि से किया गया। जिस समय यह साम्राज्य स्थापित हुआ, उस समय से लेकर कई शताब्दियों तक, सर्वसाधारण को इसके इस नाम पर कोई आपत्ति न थी। उनके लिए इसका आकर्षण तथा गौरव विलक्षण था। उन्हें इसमें समस्त (ईसाई) धार्मिक समाज की राजनैतिक और धार्मिक एकता के प्रत्यक्ष दर्शन होते थे। उन्हें यह दृढ़ विश्वास था कि सब ईसाई जनता का एक ही साम्राज्य है,

जिसका प्रधान शासक एक ही सम्राट् है। उन्हें यह रोम-साम्राज्य का ही सिलसिला प्रतीत होता था, कोई नवीन संगठन नहीं। विशेषता यह थी, कि इस साम्राज्य का आधार सैनिक शक्ति या तलवार न थी, और न इसके सम्राट् अनसमझ लोगों, अथवा पक्षपात युक्त, लोभी या पदाभिलाषी मतदाताओं, के बनाये हुए थे।

तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ से ही इस साम्राज्य का ह्रास होने लग गया। पहले, सम्राट् पोप से राजमुकुट ग्रहण करने के लिए रोम जाया करते थे। अब कितने-ही व्यक्ति जर्मनी में बादशाह चुने जाने के बाद रोम नहीं गये; और जो वहा गये भी, उनका इटली पर कुछ विशेष अधिकार न रहा। अन्य कई भागों की भाति इटली भी साम्राज्य से पृथक् हो गया। साम्राज्य का पोपों से भी कुछ सम्बन्ध न रहा। फिर साम्राज्य ही क्यों रहा? बात यह थी कि जर्मनी को बादशाह की आवश्यकता होती थी, जो वहा के अन्य राज्याधिकारियों या नरेशों में प्रमुख हो; क्योंकि गत तीन शताब्दियों से उसके बादशाह सम्राट् कहे जाते रहे थे, अब भी उन्हें यह नाम धारण करना आवश्यक प्रतीत हुआ। पुनः (पश्चिमी) योरप की एकता का विचार, कुछ धुंधले रूप में ही सही, लोगों के मन में विद्यमान था। सम्राट् की, कानूनी दृष्टि से आवश्यकता थी। जर्मनी में वह विविध राजाओं को राज्याधिकार प्रदान करने के लिए आवश्यक था, और योरप में वह सब अधिकारों के स्रोत के रूप में, भावी बादशाहों को राजमुकुट देने, तथा अन्य

व्यक्तियों के विविध अधिकारों को प्रमाणित करने, आदि के लिए आवश्यक था।

पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में साम्राज्य तथा धर्म की एकता का विचार क्षीण होता चला। भिन्न-भिन्न देशों में इस विचार का उदय होने लगा कि बादशाह को रोम के पोप की अधीनता में रहने की आवश्यकता नहीं, हमें अपने-अपने धर्म की व्यवस्था में स्वतंत्र रहना चाहिए। और, जब सम्राट् इङ्गलैंड और फ्रांस के तथा अन्य स्थानों के पारस्परिक झगड़ों को मिटाने में असमर्थ रहा तो साम्राज्य की एकता का विचार भी स्वप्नवत हो गया। पुनरुज्जीवन तथा सुधार की लहर ने, और नये-नये विषयों के चिन्तन ने, अन्यान्य बातों में साम्राज्य सम्बन्धी प्राचीन आदर्श को भी लुप्त कर दिया। योरप की राजनैतिक एकता के स्थान में, राष्ट्रीय-राज्यों का विचार होने लगा। धार्मिक सुधार की भावना ने ईसाई समाज को दो भागों में विभक्त कर दिया; पुरातन मतवादी, 'रोमन कैथलिक' कहलाये; और नवीन मतवादी 'प्रोटेस्टैंट'। प्रोटेस्टैंट अनेक सख्तियों को सहते हुए भी क्रमशः बढ़ते रहे। इन दोनों सम्प्रदायों में पीछे जाकर भयंकर विद्वेष हुआ, जिसके प्रतिफल-स्वरूप धर्म के इतिहास में, लाखों आदमियों का रक्तपात और असंख्य आदमियों का दारुण दुख अंकित हुआ। धर्म-सुधार-आन्दोलन के प्रधान क्षेत्र, जर्मनी में जब दो परस्पर विरोधी दल हुए तो सम्राट् की कुछ न चली; वह अधिक से अधिक-एक-दल का मुखिया रह गया, इससे

साम्राज्य की एकता को उसी देश में गहरा धक्का पहुँचा, जो कई शताब्दियों से साम्राज्य का केन्द्र था।

सोलहवीं शताब्दी के मध्य से जर्मनी भिन्न-भिन्न राज्यों का एक संघ रह गया। सम्राट् कहने को तो चुना जाता था, पर वास्तव में हेप्सबर्ग वंश का व्यक्ति परम्परानुसार होता था। पहले वह योरप के भिन्न-भिन्न राज्यों के पारस्परिक (अन्तराष्ट्रीय) मामलों को निपटाने का प्रयत्न करता था; अब केवल जर्मनी के भीतरी विषयों का सरपंच रह गया, वह भी पूर्ण प्रभावशाली नहीं। अठारहवीं सदी में साम्राज्य नितान्त बलहीन और कलह की वस्तु था, न पवित्र, न रोमन, और न वास्तव में साम्राज्य ही। तथापि इसका अस्तित्व था, वह कल्पना के लिए तो था ही। इसका अन्त फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने किया। नैपोलियन ने सन् १८०६ में फ्रांस के राज्य को इटली और लम्बार्डी के साथ मिलाने के लिए फ्रैंसिस द्वितीय को सम्राट् पद से हटाने का, और 'पवित्र रोमन साम्राज्य' को अपने साम्राज्य का अंग बनाने,का निश्चय किया। पर स्वाभिमानी फ्रैंसिस द्वितीय का निश्चय था कि जिस मुकुट (राज्य) की मैं रक्षा नहीं कर सकता, उसे ग्रहण करने का और भी किसी व्यक्ति को अधिकार नहीं। इसलिए उसने इस पद का त्याग ही कर दिया, उसने आस्ट्रिया के सम्राट् का पद ग्रहण कर लिया। इस प्रकार अपने जीवन की अन्तिम कई शताब्दियों में नाम-मात्र की वस्तु रह कर, सन् १८०६ ई० में इस साम्राज्य का अन्त हो गया।

यह साम्राज्य बहुत कुछ काल्पनिक या नाम-मात्र का था; परन्तु

संसार में विचारों का भी बड़ा बल होता है; दुनिया में बड़े आदमियों के नाम से, अथवा उनके दो शब्द कह देने से भी कभी-कभी बड़े-बड़े काम हो जाते हैं। इस साम्राज्य के काल्पनिक होते हुए भी इसके द्वारा, धर्म और शिक्षा आदि में, समाज की अच्छी सेवा हुई। इसके रोमन केथलिक (केथलिक = उदार, सर्व व्यापी) धर्म ने आरम्भ में यथा-नाम गुणों का परिचय दिया, सब देशों और सब जातियों के लोगों के लिए इसका द्वार खुला था; यही नहीं, किसी भी सामाजिक स्थिति के आदमी धर्माध्यक्ष तक बन सकते थे। इस धर्म के प्रारम्भिक अनुयाइयों ने अनेक कष्ट सहकर दूर-दूर के देशों में भ्रमण कर लोगों को सद्व्यवहार, सभ्यता और सदाचरण आदि की शिक्षा दी। कई शताब्दियों तक इस धर्म के गिरजाघर (मन्दिर) ही विद्या के केन्द्र थे, और कोई भी विद्यार्थी या जिज्ञासु यहाँ आकर बिना भेद-भाव विविध विषयों की शिक्षा पा सकता था।

पोपों ने धर्म प्रचारार्थ बस्तियों से बाहर अनेक मठों की स्थापना की, इनके महन्तों ने आरम्भ में बहुत समय तक बड़े संयम और सादगी का जीवन बिताया, रूखे-सूखे भोजन और मोटे-झोटे वस्त्र पर निर्वाह करते हुए ये धर्म-सेवा में लगे रहते थे, असहाय अनाथ और रोगियों की यथोचित सहायता करते और अपनी बुद्धि और अनुभव के अनुसार विविध घटनाओं को लिखा करते थे। इनके लेखों से, पीछे, लेखकों को तत्कालीन इतिहास की बहुत सामग्री मिली है।

पवित्र रोमन साम्राज्य ने धार्मिक तथा राजनैतिक आदर्शों और

भूमि-ग्रहण-पद्धति आदि की समानता से, (पश्चिमी) योरप के सामने एकता की अच्छी मिसाल रखी। यह ठीक है कि पोप और सम्राट् की दो भिन्न भिन्न सत्ताएँ विद्यमान थीं, और इन दोनों का समय-समय पर बड़ा, घातक विरोध हुआ। प्रत्येक ने दूसरे को अपने अधीन करने का भरसक प्रयत्न किया, किन्तु इन दोनों में से किसी एक को उच्च और श्रेष्ठ माने बिना पूर्ण एकता सम्भव न थी। तथापि तत्कालीन लोगों को यह त्रुटि विशेष रूप से अखरती नहीं थी। वे कुछ-न-कुछ एकता का ही अनुभव करते थे, और किसी दिन उस एकता की अधिक वृद्धि या पूर्णता हो जायगी, ऐसी आशा करते थे। यह आशा कभी पूरी न होने पर भी योरप के देश अन्य देशों की अपेक्षा, एक दूसरे से अधिक मेल-जोल रखते हैं। योरपीय राज्य भाषा, व्यापार, सभ्यता, और शासन तथा साहित्य में जितना एक-दूसरे से मिलते हैं, इतना ससार के अन्य भागों से नहीं। जहां तक उनके पारस्परिक स्वार्थों का सघर्ष न हो, वे अन्य राज्यों से व्यवहार या युद्ध आदि करने में अपनी एकता का परिचय देते हैं, और आज दिन एशिया और अफ्रीका वालों के लिए 'योरपियन' शब्द कुछ अर्थ रखता है। प्रायः हम योरप के किसी आदमी की जाति, देश या धर्म की ओर ध्यान न देते हुए उसे योरपियन मात्र कहते हैं। योरप की यह थोड़ी बहुत एकता कुछ अश में 'पवित्र रामन साम्राज्य' की देन, अथवा उसके समय का अवशिष्ट अश, कही जा सकती है।

अस्तु, अब हम इस साम्राज्य के पतन पर विचार करें। इस

साम्राज्य का अन्त किसने किया, इसकी मृत्यु का दायित्व किस पर है; क्या यह स्वयं ही उसके लिए दोषी नहीं है ?

इस साम्राज्य का बल लोगों का यह विचार था कि समस्त सभ्य (ईसाई) समाज एक है, और इस समाज का सगठन जिस आदर्श पर होना चाहिए, वह प्राचीन रोम साम्राज्य है। यही बात इस साम्राज्य की सबसे बड़ी निर्बलता भी थी। इस साम्राज्य का आधार केवल लोगों के विचार थे। आत्मा थी, शरीर नहीं; यदि शरीर था भी तो प्रायः रोगी रहने वाला; यथेष्ठ भौतिक शक्ति का अभाव था। समय-समय पर इस व्यवस्था के दोष सामने आये। प्रबल प्रतापी सम्राट् समस्त साम्राज्य का सूत्र-संचालक हो सकता था, परन्तु निर्बल व्यक्ति का, ऐहिक संसार में बहुत समय आदर सम्मान नहीं होता। साम्राज्य के दावेदार अनेक बार एक ही समय में कई-कई हो गये; कोई शक्ति उनका पारस्परिक समझौता न करा सकी, किसी का उन पर नियंत्रण न हुआ। उत्तराधिकारियों की फूट से दलबन्दी का बाजार गर्म हुआ। माडलिक राजाओं या सरदारों ने ज़ोर पकड़ा। साम्राज्य की एकता विलुप्त हो गयी। अब किसी सम्राट् का यह विचार अर्थ-हीन हो गया कि परमात्मा से समस्त भूमि मुझे मिली है, और सामन्त सरदार आदि मुझसे भूमि ग्रहण करते हैं, और इस प्रकार सब एक-मात्र मेरे आधीन हैं, और किसी की प्रभुता नहीं। फिर, जब कि पोप (ईसाई धर्म का सर्वोच्च अधिकारी) भी ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में समस्त राज्य का दावेदार बने,

यहाँ तक कि सम्राट को अपने अधीन एक प्रमुख सामन्त माने, और जगह-जगह अपने कर्मचारियों का जाल फैलाकर लोगों में परलोक-भय उत्पन्न करता हुआ, उन्हें सम्राट् के विरुद्ध करने, और अपने पक्ष में लाने, का षड़यन्त्र करे तो साम्राज्य की दशा क्या होगी, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

पर इसमें आश्चर्य क्या ! साम्राज्यों का जीवन राजनीति होती है। इस साम्राज्य ने धर्म को उसका स्थानापन्न नहीं, तो बराबरी का कर दिया था। शासन की एक बागडोर सम्राट् के हाथ में थी, तो दूसरी पोप के आधीन रहने लगी थी। यह एक मियान में दो तलवारों की सी बात थी। स्वतन्त्र और बलवान राष्ट्रों का निर्माण हो जाने पर उन्होंने इन दोनों सत्ताओं का विरोध करना आरम्भ किया। सम्राट् तो बहुत समय से प्रायः निर्बल होने लगा था। पोप की सत्ता बनी हुई थी, उसने योरप के धार्मिक ही नहीं, राजनैतिक विषयों में भी पर्याप्त हस्तक्षेप करना आरम्भ किया। प्रतिक्रिया-स्वरूप स्वतंत्र भावनाओं का उदय हुआ। स्वतंत्र राष्ट्रों के लिए सम्राट् की भाँति पोप का हस्तक्षेप असह्य था। कालान्तर में परिस्थिति-वश पोप की गद्दी रोम से अविग्नान (फ्रांस) आयी, तब तो पोप मानों फ्रांस के बादशाहका शरणागत था, और, जब रोम और आविग्नान दोनों स्थानों में अलग-अलग पोप बने और दोनों का पारस्परिक विरोध हुआ तो पोप की सत्ता का क्षीण होना अनिवार्य था। इधर, पोप और उसके कर्मचारी इतने लोभी एवं आतंककारी हो गये, कि जो व्यक्ति, चाहे बादशाह ही क्यों न हो,

उनके आदेश के विरुद्ध चलता मालूम होता, उसे वे कठिन-से-कठिन सामाजिक, या आर्थिक दंड देते। सत्य, विज्ञान, और तर्क को अन्ध-श्रद्धा और अन्ध-विश्वासों के घाट उतारा गया। आविष्कारकों, अन्वेषकों तथा विज्ञासुओं का बुरी तरह दमन किया गया। इस साम्राज्य में नागरिक यह प्रत्यक्ष अनुभव करते थे कि हमारे बादशाह या सम्राट के ऊपर पोप आदि ऐसे व्यक्तियों का अधिकार है, जिनका स्वयं कुछ ऊँचा आदर्श नहीं, कुछ अच्छा जीवन नहीं। पोप और उनके कर्मचारी तो राज्य के कानून से मुक्त थे ही, अन्य व्यक्ति भी उनकी शरण में जाकर राज-नियमों की अवहेलना कर सकते थे। ऐसे साम्राज्य का शिथिल और निर्बल होना स्वाभाविक था, विशेषतया जब कि इसके विविध भागों के निवासियों में राष्ट्रीयता के भावों का उदय हो गया, वे अपने राजनैतिक अधिकारों को समझने लगे। बस, जगह-जगह स्वतंत्र राष्ट्रों का निर्माण हो गया, जिन्होंने इस साम्राज्य से पृथक् हो कर साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े होने देना ही ठीक समझा। अस्तु, जो साम्राज्य केवल कल्पना के सहारे जीता है, जो धर्म का दुरुपयोग कर अंध-विश्वासों को अपना बल समझता है, जो देश काल अर्थात् परिस्थितियों की अवहेलना करता रहता है, जिसके सूत्रधार नैतिक गुणों को तिलाजंलि दे देते हैं, उसका पतन अनिवार्य है। क्या उसे आत्मघात का दोषी नहीं कहा जा सकता?

पन्द्रहवाँ अध्याय

पतन-मीमांसा

नाश, ह्रास आदि के कुछ ऐसे कारण हैं, जो सभी सामाजिक तथा राजनैतिक संस्थाओं पर एकसे लागू होते हैं। नीति के दुर्गुणों, तथा शासक जाति के नैतिक आचरण में अज्ञात तथा अदृष्ट ह्रास के आजाने से भी राजनैतिक ह्रास तथा नाश आरम्भ हो जाता है।

—राघवेन्द्र राय

'साम्राज्य' शब्द को ही छोड़ो, जो शक्ति, हिन्सा, तथा जबरदस्ती का सूचक है। 'कामनवैल्थ' या 'स्वतत्र राष्ट्रों का संघ' शब्द को ग्रहण करो।

—ऐनीबिसेन्ट

साम्राज्यों के इतिहास पर एक नज़र—संसार में समय-समय पर अनेक राज्य बने। बहुत-से राज्य दूसरे देशों को अपने आधीन करके, प्रायः उनकी सभ्यता या संस्कृति को मिटाकर, अपनी प्रभुता स्थापित करके, अपना विस्तार बढ़ाते गये। इन्हों ने साम्राज्य का स्वरूप ग्रहण किया, अपने ज़माने में इनकी खूब चली। इन्होंने विश्व-विजेता बनने का मनसूबा बाधा; पृथ्वी भर पर अपनी धाक जमाने का प्रयत्न किया। जवानी के जोश में इन्होंने किसी को कुछ न समझा। इनके द्वारा मानव जाति का कभी-कभी कुछ उपकार भी हुआ। पर प्रायः इनकी विशालता और धन-वृद्धि

के साथ इनमें ऐश्वर्य, अहंकार और विलासिता बढ़ती गयी। शान-शौकत बढ़ी तो आरामतलबी और शारीरिक निर्बलता भी। क्रमशः इनमे नैतिक गुणों का ह्रास हुआ, चाहे इन्हें इसका अनुभव न हुआ हो, और खुशामदी इनकी प्रशंसा के गीत गाते रहे हों। दया, उदारता, आदि की डींग हाकते हुए भी इन्होंने अपनी क्रूरता और संकीर्णता का परिचय दिया। अपने उन्माद में ये मृत्यु को भूल गये, पर मृत्यु तो इन्हें न भूली; वरन् इनके असंयमी जीवन और अनैतिक आचरण के कारण उसे जल्दी ही आने का अवसर मिला।

जातियों के इतिहास मे पाच-दस हजार वर्ष का समय क्या होता है। पर इतनी उम्र भी तो साम्राज्य नहीं भोग पाये। कितनों ही का जीवन-काल तो कुछ सौ वर्ष तक ही रहा। और, कुछ तो मनुष्यों की दो-दो तीन-तीन पीढ़ियों मे ही समाप्त हो गये। कितनी अल्प आयु वाले रहे, ये साम्राज्य! और, इस थोड़ी-सी जिन्दगी में ये कितने इतराये! कितनी इनकी ऐंठ और अकड़ रही! एक को दूसरे ने पैरो तले रौंदा, दूसरा तीसरे का शिकार हुआ, तीसरे का मान-मर्दन चौथे ने कर दिखाया, फिर पाचवा रंग-मंच पर आया, उसे हटाकर छठे ने अपना झंडा फहराया। इसी प्रकार क्रम चलता रहा। जो आज जीतने वाला है, कल वही पराजित है। हम अपना विजय-गीत सुन रहे हैं, हम खुशी के मारे फूले नहीं समाते; सोचते हैं हमारे जैसा कोई हुआ न होगा। हम नहीं जानते कि इसी समय पर्दे के पीछे, हमारा मृत्यु-संगीत तैयार हो रहा है। हमें भी कूच

करना है; दो दिन की बादशाहत है, चाहे हम इस समय का सदुपयोग कर लें, चाहे दुरुपयोग; चाहे नेकनामी हासिल कर लें, और, चाहे बदनामी।

आह! इस संसार में कितने साम्राज्य हो गये! उनकी गणना किसने की है! गिनती करना सहज भी नहीं। बहुतों का नामोनिशान भी नहीं रहा। इस समय कुछ इने-गिने साम्राज्य हैं, शेष सबका अन्त हो चुका। पिछले अध्यायों में कुछ साम्राज्यों के पतन पर विचार किया गया, और यह तो केवल उदाहरण मात्र हैं। इनके अतिरिक्त और कितने ही साम्राज्यों की यह गति हो चुकी है। कुछ साम्राज्यों का क्षय तो हमारे देखते-देखते हो रहा है। कुछ में ऐसी घटनाएँ हो रही है कि सहज ही यह अनुमान होता है कि पतन का समय आ पहुँचा।

इतिहास ने दिखाया कि जब पश्चिमी योरप पत्थर-युग से ऊपर उठा, उसके बहुत पहले मिश्र और वैबिलन आदि काफी उन्नत हो चुके थे। उन के ह्रास के बाद क्रमशः क्रीट, असुरिया, काल्डिया, ईरान और यूनान आदि गिरते गये। इन सब देशों ने एक दूसरे को कुचल कर अपना उत्कर्ष चाहा। यूनान के उत्कर्ष-काल के समय एक दिन लोगों ने देखा—सिकन्दर महान, विश्व के मान-चित्र पर से, कुछ साम्राज्यों को मिटा देना चाहता है। उसकी हविस पूरी नहीं हुई। अभागे सिकन्दर के मृत शरीर पर, रोम हंसता खिलखिलाता, शोषक होकर आ गया। रोम ने चारों ओर विजय-पताका फहरायी। उसने विश्व पा लिया, पर अपनी आत्मा खो दी। रोम के विकास ने जो विकृत

रूप दिखलाया, उसे पढ़ कर आज भी आंखें खून के आंसू में उभर आती हैं। रोम का भी नामोनिशान मिटा, और अब यह आज के शक्तिशाली योरपीय राष्ट्र आये। इन्होंने भी एक के बाद एक उसी राह पर कदम रखे, जो इसके पूर्व ऐतिहासिक पथ-प्रदर्शक लोग बना कर छोड़ गये थे। परिणाम जो हुआ, वह मोटे तौर पर है—गत महायुद्ध। इसने सभ्यता के शताब्दियों के जर्जरित निष्प्राण ढांचे का बचा-खुचा आकार भी नष्ट कर दिया। तब से अब तक का इतिहास ताजा है। पिछले महायुद्ध की रक्त-प्लावित मेदिनी अभी सूखी भी नहीं, कि योरप, और योरप ही क्यों, सारा संसार एक बार पुनः वही संहार-लीला देखने के लिए परवाना बन कर अग्नि-शिखा पर कूद पड़ा है। ['प्रकाश' से संकलित]

मृत्यु का कारण जान लेना उपयोगी है—यह ठीक है कि प्रायः कोई साम्राज्य वास्तविक स्थिति प्रकट करके अपनी पोल खोलना नहीं चाहता, वह घटनाओं को अपने ढङ्ग से विशेष रंग में रंग कर संसार के सामने रखता है। और, यह भी सत्य है कि साधारण आदमियों की भांति, बहुत-से साम्राज्य अनिष्टकारी प्रतीत होने वाली घटनाओं पर गहरा विचार करना नहीं चाहते। परन्तु इससे उन घटनाओं का होना नहीं रुक सकता। हम अपने प्रेम-पात्रों की बीमारी को, भयंकर तथा प्रत्यक्ष होने पर भी, देखना-सुनना नहीं चाहते, तो इस से रोगी रोग-मुक्त थोड़े ही हो जायगा! हम कुछ दिन उसकी बीमारी छिपा सकते हैं, पर उसकी मृत्यु हो जाने पर तो सब उसका हाल जान ही लेंगे। अस्तु, जैसा कि पहले कहा

जा चुका है, व्यक्तियों या संस्थाओं की भांति साम्राज्यों की भी मृत्यु अनिवार्य है। जिस का जन्म है, उसकी मृत्यु भी होकर रहेगी। तथापि यह जानना उपयोगी है कि मृत्यु के कारण क्या होते हैं, साम्राज्य किन-किन बीमारियों में ग्रस्त होते हैं।

मृत्यु के बाहरी कारण—प्रायः हमारी आदत पड़ गयी है कि हम किसी चीज को ऊपर से देखते हैं, गम्भीर विचार नहीं करते; उसकी गहरायी तक नहीं जाते। जब किसी आदमी की मृत्यु का कारण पूछा जाता है तो बता दिया जाता है कि उसे बुखार मोती-झरा, चेचक, हैज़ा या प्लेग हो गयी। यही नहीं, कभी-कभी तो हम सुनते है कि एक आदमी कल तक भला-चगा था, रात में अचानक उस की तबियत खराब हुई, और कुछ ही देर में उसका देहान्त हो गया। हम प्रायः यह नहीं सोचते कि 'अचानक' या 'अकस्मात' क्या बात है। क्या सृष्टि मे कोई बात बिना यथेष्ट कारण के अकस्मात् भी होती है? हाँ, कभी-कभी ऐसा होता है कि एक आदमी सड़क पर से जा रहा है, पीछे से मोटर आयी, धक्का लगा, आदमी गिर गया और मर गया। ऐसी दुर्घटनाओं से होने वाली मृत्यु को हम अकाल-मृत्यु या आकस्मिक मृत्यु कह सकते हैं। परन्तु तनिक विचार कीजिए, सृष्टि में प्रति दिन जितने आदमी मरते है, उन सब में इस प्रकार दुर्घटनाओं से मरने वाले कितने होते है। अधिकतर आदमी तो किसी न-किसी बीमारी से ही मरे बताये जाते हैं। और यह बीमारी तो मृत्यु का, प्रत्यक्ष दीखने वाला,

तात्कालिक या अन्तिम कारण है। इसके पीछे तो उस मनुष्य का वह जीवन है, वह व्यवहार रहन-सहन, या स्वभाव अथवा प्रकृति है, जिससे वह बीमारी उसकी मृत्यु का कारण हो सकी। अन्यथा, प्रायः कोई बीमारी ऐसी नहीं होती, जिसका परिणाम अवश्य ही मृत्यु हो; कोई बीमारी आदमी को उसी दशा में मारती है, जब कि वह आदमी उस बीमारी से मरने योग्य हो। एक चिंगारी बड़े महल को फूँक सकती है, पर केवल उसी दशा में, जब कि वहाँ ऐसी सामग्री विद्यमान हो, जिस में आग पकड़ने की शक्ति या प्रवृत्ति हो। अस्तु, जो बीमारी किसी व्यक्ति की मृत्यु का कारण बतायी जाती है, वह प्रायः बाहरी कारण होती है। भीतरी कारण अधिक गूढ़, और, इस लिए अधिक विचारणीय होते हैं।

यह बात व्यक्तियों के सम्बन्ध में कही गयी; ठीक यही बात संस्थाओं के लिए है, साम्राज्यों के लिए है। कोई साम्राज्य क्यों मरा? इसका बाहरी कारण सब को दीखता है; दूसरे साम्राज्य का उससे युद्ध होगया, या उसी के अधीन देशों या जातियों ने विद्रोह कर दिया। परन्तु क्या इस पर यह प्रश्न उपस्थित नहीं होता कि दूसरा साम्राज्य इसे क्यों हरा सका; इस साम्राज्य के अन्दर क्या विकार थे, जिन के कारण, इसे हारना पड़ा। यदि इस के अधीन देशों या जातियों ने विद्रोह किया तो क्यों किया, और वे इसमें क्यों सफल हुईं?

मृत्यु के भीतरी कारण—एक सुन्दर दृष्टान्त है। महामारी

एक नगर से लौटती है, तो फाटक पर उसकी, उस नगर की अधिष्ठात्री देवी से भेंट होती है। देवी पूछती है तुमने कितने आदमियों की भेंट ली। महामारी कहती है पाँच की। देवी कहती है कि पाच नहीं, पाच हज़ार आदमी मरे हैं। महामारी कहती है कि मेरा कार्य केवल पाच आदमियों को मृत्यु के घाट उतारने का था; शेष तो पहले ही मरे-मराये थे। वे तो मृत्यु की राह देख रहे थे। अब उन्हें मरने के लिए मेरा बहाना मिल गया। मैं नगर में न गयी होती तो भी वे तो किसी-न-किसी बहाने से मरने वाले ही थे।

इस दृष्टान्त का आशय यह है कि हज़ार में से नौ सौ निन्याव व्यक्ति अपनी मृत्यु की सामग्री पहले से जुटाये हुए होते हैं। व वास्तव में उस बीमारी से नहीं मरते, जो प्रकट रूप से उन्हें मारती हुई दिखायी देती है। इसी प्रकार साम्राज्यों के पतन का वास्तविक कारण भी वह नहीं होता, जिसे साधारणतया कारण बता दिया जाता है, उदाहरणवत् दूसरों का आक्रमण आदि। जिस समय किसी साम्राज्य का प्रत्यक्ष रूप में पतन होता है, उससे काफी पहले से उसमें कुछ विकार आ जाते हैं, उनसे वह बहुत निर्बल, और बिखरा हुआ सा हो जाता है। बाहर से देखने वालों को वह हृष्ट-पुष्ट या विस्तृत मालूम होता रहता है, पर वह उस घुन लगे हुए वृक्ष की तरह होता है, जो अपने गिरने की घड़ी की इन्तज़ार करता है। मामूली आदमी जाकर उसे गिरा सकता है। निदान,

साम्राज्यों के पतन को समझने के लिए, हमें उन बातों को सोचना चाहिए, जो उनमें घुन लगाती हैं; जो उन्हें पतन से पहले ही मरा हुआ कर देती हैं।

पतन के भीतरी कारण अनेक होते हैं। देश-काल के भेद से कहीं एक कारण मुख्य हो जाता है, और कहीं दूसरा। कुछ अवस्थाओं में दो या अधिक कारण एक-साथ भी अपना प्रभाव डालते हैं। हम यहाँ कुछ मुख्य-मुख्य कारणों का विचार करेंगे। पहले वर्ण-भेद या जाति-भेद की बात लें।

वर्ण-भेद—वर्ण-भेद या जाति-भेद कोई सर्वथा नया रोग नहीं है, थोड़ी-बहुत मात्रा में यह मनुष्य जाति को चिरकाल से घेरता रहा है। यद्यपि प्राचीन भारत में सिद्धान्त यह था कि जाति, गुण-कर्म से मानी जाय (और, इस लिए निम्न जातियों के अनेक व्यक्ति अपने पुरुषार्थ और योग्यता से ऊंची जातियों के आदमियों के समान गण-मान्य हो गये), सुदूर रामायण-काल में ऐसे उदाहरणों का अभाव नहीं है कि साधारणतया अनार्यों और शूद्रों को कई ऐसे अधिकारों से वंचित रखा जाता था, जो उनकी-सी योग्यता वाले आर्यों तथा द्विजों को सहज ही प्राप्त थे। जाति को जन्म या रंग से मानने का विचार, पीछे क्रमशः बढ़ता गया।

यद्यपि यूनान वालों ने अपनी उन्नति और वैभव के समय में यथा-सम्भव दूर-दूर तक लोगों को एकता और सभ्यता सिखायी, उन्होंने प्रायः अपने नागरिक राज्यों में, बाहर वालों को तथा

अपने दासों को नागरिकता के अधिकार न दिये। इस प्रकार यूनान में, कुछ अंश में वर्ण या जाति का भेद माना जाता था। उन बातों को दो हजार से अधिक वर्ष हो गये। ससार की आधुनिक सभ्य जातिया, विशेषतया साम्राज्य-निर्माण करने वाले, अपने आपको उनसे कहीं आगे बढ़ा हुआ बतलाते हैं। परन्तु इनके व्यवहार में यह भेद-भाव और भी भयंकर रूप धारण किये हुए है।

वर्तमान काल में गोरी जातियाँ इस बात का बीड़ा उठाये हुए हैं कि संसार की मानव जनता दो भागों में विभक्त रहे—एक भाग गोरी जातियों का, और दूसरा रंगदार जातियों का। गोरी जातियाँ शासक, स्वाधीन, सुख भोगने वाली हों; और, रंगदार जातियाँ शासित, पराधीन और जैसे-तैसे उदर-पूर्ति करने वाली हों। प्रत्येक देश में स्वास्थ्यप्रद, उपजाऊ भूमि पर गोरी जातियों की बस्तिया हों, उनके सुन्दर नगर, उद्यान, और क्रीड़ा-स्थल आदि बने हों, और, बची-खुची कम, उपजाऊ और ख़राब भूमि में रंगदार आदमी निर्वाह करें। यदि कुछ रंगदार आदमी गोरी जातियों के उत्तम स्थानों में रहना चाहें तो उनके लिए 'प्रवेश-निषेध' हो; अथवा, कुछ ऐसी विशेष शर्तों के पालन करने पर ही उन्हें उसकी इजाज़त दी जाय, जिनके फल-स्वरूप उन्हें सेवक या गुलाम होकर रहना पड़े, स्वतंत्र नागरिक की भाति नहीं।

बहुधा, सभ्यता का दम भरने वाले, गोरी जातियों के साम्राज्य-केन्द्रों में रंगदार जातियों के आदमियों से—चाहे वे उस साम्राज्य के

अन्दर ही रहने वाले क्यों न हों—अच्छा व्यवहार नहीं किया जाता। उनके कारखाने वाले इन्हें औद्योगिक शिक्षा देना नहीं चाहते, इन्हें भर्ती न करने के वे अनेक बहाने बना देते हैं। कहीं तो इन्हें किराया देने पर भी रहने के लिए मकान नहीं मिलते। नाच-घरों, जल-पान-घरों, होटलों और सिनेमा तथा नाटक-घरों एवं अन्य विविध तमाशों में, इन्हें इस लिए स्थान नहीं दिया जाता कि प्रबन्धक समझते हैं कि ऐसा करने की दशा में गोरी जातियों के आदमी इनमें सम्मिलित नहीं होंगे; वे इनके साथ बैठने-उठने में अपनी बे-इज्जती समझते हैं। यह वर्ण-भेद असभ्य मानी जाने वाली जातियों को असन्तुष्ट और साम्राज्य-विरोधी बनाता है, और साम्राज्य के पतन में सहायक होता है।

(२) धार्मिक पक्षपात—वर्ण-भेद से मिलता हुआ, साम्राज्य-पतन का एक कारण धार्मिक अर्थात् साम्प्रदायिक पक्षपात है। प्राचीन काल में धर्म के नाम पर कितनी हिन्सा, क्रूरता और नर-मेध हुआ है! प्रायः प्रत्येक धर्म वालों का विश्वास होता है कि हमारा ही धर्म सच्चा और श्रेष्ठ है। छल से, कपट से, प्रलोभन से, और ज़ोर-जबरदस्ती से, यहा तक कि तलवार के बल पर भी, जैसे-बने आदमी अपने मतानुयाइयों की संख्या बढ़ाना अपना कर्तव्य समझते हैं। फिर, साम्राज्यों की तो बात और भी बढ़ कर रहने वाली ठहरी। सम्राट् धार्मिक पक्षपात के वशीभूत होकर अपनी शक्ति और द्रव्य का कितना दुरुपयोग कर सकता है, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

आधुनिक काल उदारता का युग कहा जाता है, पहले की बातें अब निन्दा और घृणा की दृष्टि से देखी जाती हैं, फिर भी शासक जाति अपने धर्म वालों को जितना सुख, सुविधाएं और उच्च पद प्रदान करती हैं, उसकी तुलना में वह अन्य धर्मावलम्बियों के साथ कैसा व्यवहार करती हैं, यह खुला रहस्य है। वस्तु-स्थिति में वास्तविक भेद कम है, हां रूपान्तर हो गया है, पर यही तो पर्याप्त नहीं है। अस्तु, धार्मिक पक्षपात की नीति से जिन लोगों को कष्ट या असुविधाएँ होती हैं, वे क्रमशः साम्राज्य की शत्रु बन जाती हैं, और अवसर पाने पर अपनी स्वतंत्रता की पताका फहराने लगती हैं। और, यह पताका साम्राज्य के पतन की ही तो सूचना देने वाली होती है।

(३) भौतिक उन्नति और शोषण—अब भौतिक उन्नति की पराकाष्ठा और उसके दुरुपयोग की बात लीजिए। संसार-यात्रा के लिए भौतिक या आर्थिक उन्नति करना आवश्यक है। परन्तु प्रत्येक बात की एक सीमा होती है। मर्यादा उलंघन करने पर अच्छी वस्तु भी हानिकर हो जाती है। जो साम्राज्य भौतिक उन्नति में ही अपनी सब शक्ति लगा देता है, जो जैसे-बने—दूसरों को दबा कर, सता कर, छल से, बल से, या कपट से उनका शोषण करता है, उसका भविष्य चिन्तनीय होने वाला ठहरा। फिर, आज कल तो विज्ञान से भौतिक उन्नति के बहुत से नये साधनों का आविष्कार होगया है, और, होता जा रहा है। जो साम्राज्य इन साधनों को अपने ही स्वार्थ के लिए व्यवहार में लाता है, वह अपने अधीन देशों या जातियों में

विद्रोह की भावना पैदा करता है, और, इस प्रकार अपना विध्वंस करने में सहायक होता है।

जो लोग पराधीनता का कष्ट पाते हैं, जिनका नित्य शोषण होता रहता है, वे चिरकाल तक 'मूर्खों के स्वर्ग' में नहीं रह सकते। थोड़े-बहुत समय में उनमें स्वाधीनता की भावना जाग्रत हो जाती है। वह यह समझने लग जाते हैं कि हमें अपने घर का स्वयं प्रबन्ध करना चाहिए, चाहे उसमें जितनी कठिनाई उपस्थित हो, दूसरों द्वारा शासित होना हमारे लिए अपमानकारक है। हम अपने प्रभुओं के लिए 'पीर-बावर्ची-भिश्ती-खर' क्यों रहें! हम अपनी आवश्यकताओं की वस्तुएँ स्वयं ही क्यों न बनावें।' इस प्रकार राजनैतिक तथा आर्थिक स्वावलम्बन के भावों से प्रेरित होकर वे स्वाधीनता का प्रयत्न करते हैं। वे स्वभाग्य-निर्णय की माँग करते हैं। उनका दमन किया जाता है, पर वह अन्ततः सफल नहीं होता।

कभी-कभी पराधीन देशों मे एक और भावना का भी उदय हो जाता है। शासक अपने साम्राज्य की रक्षा या वृद्धि के लिए, अधीन देश की जनता से तैयार की हुई सेना से भी काम लेना चाहते हैं। साधारण आदमी तो, स्वार्थ-वश या अज्ञान के कारण, अपने स्वामी की इच्छा-पूर्ति करते रहते हैं। परन्तु सभी लोग भेड़ों की तरह नहीं होते। कुछ व्यक्तियों में स्वतंत्र विवेक बुद्धि होती है, और स्वार्थ-त्याग भी होता है। ये सोचते हैं कि हम स्वयं तो पराधीन हैं ही, पर दूसरों का शोषण क्यों करावें। बस, ये

सेना में भरती नहीं होते, तथा अपने देश-बन्धुओं को भी भरती होने से रोकते हैं, परन्तु इससे वे अपने शासकों के कोप-भाजन बनते हैं। ज्यों-ज्यों इन्हें कष्ट दिया जाता है, लोगों की इनके प्रति सहानुभूति बढ़ने लगती है। इनका दल क्रमशः बढ़ता जाता है। यह दल इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि जब तक हमारा देश पराधीन है, तभी तक हमारे द्वारा दूसरों के शोषण का दुष्कृत्य कराया जा सकता है, अतः इससे बचने का एक-मात्र उपाय स्वाधीनता-प्राप्ति है। यह सोचकर ये अपने उद्धार के लिए कटिबद्ध होने लगते हैं। इन्हें अपनी स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए कभी-कभी कई दशाब्दियों तक रहने वाले, और प्रायः बहुत कष्ट-प्रद, संघर्ष का सामना करना पड़ता है, परन्तु अंगरेज कवि ने सत्य कहा है कि स्वतंत्रता का युद्ध एक बार आरम्भ हो जाने पर, उसमें चाहे जो घबराहट आदि हो, अन्ततः विजय प्राप्त करके ही रहता है।

(४) विलासिता और सभ्यता—साम्राज्यवादी देश अपनी राजनैतिक प्रभुता तथा व्यवसायिक उन्नति से क्रमशः अधिकाधिक धन-वृद्धि करते हैं, और परिणाम-स्वरूप उनके निवासियों में विलासिता, आलस्य, दुराचार आदि की वृद्धि होती है। उनका बल पौरुष घट जाता है, और, इससे उनकी आबादी घट जाती है। जिस साम्राज्य के केन्द्रों में बुढ़ापे और मृत्यु का नृत्य होने लगे, वह कब तक ठहर सकता है! विगत वर्षों में कई साम्राज्यों

ने अपने यहा की जनसंख्या बढ़ाने के लिए तरह-तरह के प्रोत्साहन दिये हैं, परन्तु इन कृत्रिम साधनों के सहारे साम्राज्य की रक्षा कैसे हो सकती है? विलास-प्रिय धनिकों की भांति, शिक्षित और सभ्य लोग भी विशेष सन्तानवान नहीं होते। इसके विपरीत, शारीरिक श्रम करने वाली, कम धनवान और कम सभ्य जातियां बराबर बढ़ती रहती हैं; आगे-पीछे अपना संगठन करती हैं, और आवश्यक साधन जुटाकर ह्रासोन्मुख सभ्य जातियों के साम्राज्यों का अन्त करने पर उतारू हो जाती हैं।

(५) साम्राज्यवादी देशों में ही साम्राज्य-विरोधी; (क) श्रमजीवी—गतवर्षों में पराधीन देशों में बहुत जाग्रति हुई है, वे स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए संगठित आयोजन करते हैं। इन आयोजनों से, साम्राज्यवादी देशों के भी बहुत से आदमी सहानुभूति रखते हैं, और वे इनमें यथा-सम्भव सहयोग प्रदान करते हैं। वे दलित देशों की अन्तर्राष्ट्रीय परिषदों में भाग लेते हैं, और उनके संचालन में आर्थिक सहायता देते हैं। इसमें जो बात विशेष ध्यान देने की है, वह है साम्राज्यवादी देशों में ही साम्राज्य के विरोधियों का पैदा हो जाना। पहले-पीछे श्रमजीवी दल को अनुभव होने लगता है कि पराधीन जातियों का धन अपहरण करने से श्रमजीवियों का कुछ लाभ नहीं होता; यदि कुछ लाभ होता है तो मुट्ठी भर पूंजीपतियों का ही होता है। श्रमजीवियों की दशा में कोई विशेष सुधार नहीं हो पाता। वे असन्तुष्ट बने रहते हैं।

(ख) कर-दाता—जब कोई राज्य साम्राज्य बनने लगता है, दूसरे देशों को विजय करने लग जाता है, तो उसकी विजय की भूख निरन्तर बढ़ती रहती है। अपनी शक्ति बढ़ाने के लोभ में साम्राज्य नित्य नयी विजय करते रहना चाहता है। उसकी वासना की कहीं सीमा नहीं रहती। विजय का साधन छल-कपट, या कूट-नीति भी होती है, पर प्रायः आगे-पीछे युद्ध का मार्ग ग्रहण किया जाता है। युद्ध के लिए विशेष धन चाहिए, और इसके वास्ते जनता पर कर लगाने पड़ते हैं; कभी-कभी दूसरे राज्यों से ऋण लिया जाता है, और इस ऋण का व्याज चुकाने के लिए अपने देशवासियों पर कर बढ़ाने होते हैं। प्रत्येक दशा में कर दाताओं को असन्तोष होता है, और वे अन्ततः अपने यहाँ के शासकों की साम्राज्यवादी नीति का विरोध करने लगते हैं।

(ग) दार्शनिक, कवि, लेखक आदि—श्रमजीवियों और करदाताओं के अतिरिक्त, दूसरे भी कुछ सज्जन ऐसे होते हैं, जो साम्राज्यवादी देश के होते हुए भी साम्राज्य का विरोध करते हैं। ये दार्शनिक, दूरदर्शी, उदार दृष्टिकोण वाले विचारक, कवि या लेखक होते हैं। ये दूसरों के दुख से दुखी होते हैं, और साथ ही यह अनुभव करते हैं कि दूसरे देश को दासता की ज़ंजीरों में बाँधने वाला देश अन्ततः अपना भी अनिष्ट करता है। इनकी सूक्ष्म दृष्टि से यह बात छिपी नहीं रहती कि हमारे आदमी पराधीन देशों के शासक बन कर निरकुशता, स्वेच्छाचारिता और विलासिता के अस्त हो जाते हैं, और

पीछे इन दुर्गुणों को हमारे देश में लाते हैं; इससे बचने का उपाय यही है कि हम किसी को अपनी अधीनता में न रखें। ये महानुभाव संसार को स्वाधीनता, प्रेम, और भ्रातृ-भाव का संदेश देते हैं। सत्ताधारियों को यह सहन नहीं होता।

शासक प्रायः अपने क्षेत्र में किसी स्वतंत्र विचारक का रहना पसन्द नहीं करते, चाहे उसका सीधा सम्बन्ध राजनीति से न भी हो। स्वतंत्र विचारकों के लिए सत्ताधारियों की ओर से प्राय. जेल, कालापानी, देश-निकाला या प्राण-दण्ड का उपहार तैयार रहता है; भले ही आने वाली पीढ़ियाँ उन्हें अपना मुक्तिदाता, शिक्षक या पूज्य मानें। महाभारत के समय में कंस, शिशुपाल, जरासंध और दुर्योधन सदैव कृष्ण के खून के प्यासे रहे। यूनान ने सुकरात को विष के प्याले की भेंट की, और रोम ने ईसा मसीह को सूली पर चढ़ाया। और, आधुनिक साम्राज्य अपने-अपने कृष्ण, सुकरात और ईसा मसीह का कब कुछ अच्छा स्वागत करते हैं!

अस्तु, साम्राज्यवादी देशों में इन साम्राज्यवाद—विरोधियों का पैदा होना ऐसा ही है, जैसा लंका में विभीषण का होना, अथवा हिरण्यकश्यप के यहां प्रह्लाद का होना। यह ठीक है कि आरम्भ में विभीषण या प्रहलाद अपने भाई-बन्दों या बुजुर्गों का कुछ लिहाज़ करते हैं, नम्रता-पूर्वक उन्हें समझाते बुझाते हैं, पर सफल न होने पर, ये धर्म-युद्ध के लिए कमर कस लेते हैं। निदान, दलित जातियों के संगठन को, श्रमजीवियों, करदाताओं और विश्व-बन्धुत्वाभिलाषी

महानुभावों के विचार लेख और भाषण आदि से बड़ी सहायता मिलती है। और, साम्राज्य इनके शुभ सहयोग से वंचित हो जाते हैं। साम्राज्यवादी देशों के पास सैनिक या पाशवी शक्ति का अपरिमित बल होता है, परन्तु ये नैतिक शक्ति को कब तक पराजित कर सकते हैं; विशेषतया जबकि इनके यहां घर के भेदी विभीषण मौजूद हों!

(६) साम्राज्यों का स्वार्थ; महायुद्ध— भिन्न-भिन्न साम्राज्य प्रायः एक-दूसरे के प्रति सशंक रहते हैं, उनमें पारस्परिक विद्वेष, ईर्षा और मनोमालिन्य होता है। बात यह है कि उनके स्वार्थों का सघर्ष होता है, प्रत्येक चाहता है कि उसके अधीन देशों की सख्या, विस्तार, और आय तथा महत्व विशेष हो। आरम्भ में साम्राज्यवादियों के शिकारगाह के लिए विस्तृत भू-खंड पड़े थे। जो जिधर निकल गया, उसने उधर अधिकार जमा लिया। जो देर में चेते, वे घाटे मे रहे। अच्छे-अच्छे प्रदेश अग्रगामियों ने हस्तगत कर लिये। पीछे चेतने वालों में अशान्ति और असंतोष हुआ। उन्हें मनचाही भूमि प्राप्त करने के लिए पहले के साम्राज्यों से भिड़ना पड़ता है। उधर बड़े-बड़े साम्राज्यों को अपना आकार और शक्ति तथा वैभव बनाये रखने की चिन्ता है। इस प्रकार एक साम्राज्य दूसरे साम्राज्य से लड़ाई मोल लेता है, और उसे विध्वंस करने का प्रयत्न करता है। वह अपनी सेना में नित्य नयी वृद्धि करने में दत्त-चित्त रहता है। प्रायः प्रत्येक साम्राज्य कुछ अन्य साम्राज्यों से दोस्ती

कर लेता है, और इस प्रकार साम्राज्यों के परस्पर-विरोधी गुट बन जाते हैं। और, एक साम्राज्य का दूसरे साम्राज्य से युद्ध होने का अर्थ, साम्राज्यों के एक गुट का दूसरे गुट से युद्ध, हो जाता है। परिणाम-स्वरूप, संसार में हर घड़ी महायुद्ध या विश्व-व्यापी युद्ध की आशंका रहती है। महायुद्धों से साम्राज्यों की भारी क्षति होती है।* ये साम्राज्यों के पतन में बहुत सहायक होते हैं।

साम्राज्यों पर अपने पतन का उत्तरदायित्व; व्यक्तियों का दृष्टांत—हमने साम्राज्यों के पतन के विविध कारणों का विचार किया है। असल में पतन के वास्तविक कारण बाहरी नहीं, भीतरी ही होते हैं। जिसे हम उन्नति, वृद्धि, विस्तार या सभ्यता आदि कहते हैं, उनके मूलमें निर्बलता, ह्रास और पतन की बात होती है। यह बात जैसी व्यक्तियों के सम्बन्ध में है, वैसी ही संस्थाओं तथा साम्राज्यों के सम्बन्ध में है। विचारार्थ कुछ बातें नीचे दी जाती हैं:—

१—कुछ मा-बाप बच्चों को बहुत अधिक बढ़िया, स्वाद, चटपटा या अमीरी भोजन कराते हैं। उनका ख्याल होता है, कि खूब खाने से बालक हृष्ट-पुष्ट होगा। परन्तु प्रायः बालक उसे अच्छी तरह हजम नहीं कर सकता, वह बीमार पड़ जाता है। मा-बाप अनावश्यक

---

* सन् १९१४–१९ ई० के योरपीय महायुद्ध में ?,३००,०,००० व्यक्ति मौत के घाट उतरे, और इतने ही सिपाही और नागरिक ला-पते रहे। ९०,००,००० बच्चे अनाथ हो गये, और १,००,००,००० व्यक्ति देश-हीन बन गये। इस युद्ध में १० खरब मुद्रा व्यय हुआ।

भोजन खिलाने का मोह नहीं छोड़ते। इसका दुष्परिणाम सब जानते हैं। साम्राज्यों के सूत्रधार भी विजय पर विजय करके, साम्राज्य को अधिकाधिक हृष्ट-पुष्ट करना चाहते हैं। वे कभी भी अपनी विजय से संतुष्ट नहीं होते। कुछ और, कुछ और, की तृष्णा बनी रहती है। वे नहीं सोचते कि ये विजय अन्त में कितनी मँहगी पड़ेगी; ये प्राण-घातक सिद्ध होंगी।

२—साधारण बुद्धि वाले मा-बाप यह जानते हैं कि बालकों का कहीं से कोई चीज़ चुरा कर, या किसी से छीन-झपट कर लाना अनुचित है। अतः जब बालक कोई ऐसा कार्य करते हैं तो मा-बाप उन्हें डाटते-फटकारते है, जिससे वे भविष्य में ऐसा न करें। पर, साम्राज्यों की तो बात ही उलटी है। जो आदमी साम्राज्य का जन-धन या भूमि बढ़ाता है, उसे सार्वजनिक मान-सम्मान तथा प्रतिष्ठा दी जाती है, चाहे उस व्यक्ति के उपाय कितने हो निन्दनीय क्यों न रहे हों; चाहे उसने छल, कपट, लूट, हत्या आदि कुछ भी क्यों न किया हो। वह साम्राज्य का स्तम्भ या साम्राज्य-निर्माता समझा जाता है। वह 'महान' पद से विभूषित किया जाता है। यह बात भुला दी जाती है कि जो बात किसी व्यक्ति के लिए अपराध है, वह संस्था या साम्राज्य के लिए भी अपराध मानी जानी चाहिए। अहंकार, लोभ, तृष्णा, लूट और शोषण दुर्गुण ही हैं, चाहे व्यक्ति में हों, या साम्राज्य में। पर अधिकांश साम्राज्यों की नींव तो इन दुर्गुणों पर ही रखी जाती है, फिर, इनका पतन क्यों न हो।

३—बहुत से धनी मा-बाप अपनी सन्तान को यथा-सम्भव शारीरिक

श्रम नहीं करने देते। वे समझते हैं, कि यदि हमारे बालक मेहनत करेंगे, तो इससे हमारी निर्धनता या कृपणता सूचित होगी। वे बालकों को नहलाने-धुलाने और कपड़े पहनाने तक के लिए, नौकर रखते हैं। बालक को थोड़ी दूर भी जाना हुआ, तो सवारी चाहिए, सेर-दो सेर वजन भी कहीं लेजाना हुआ तो मज़दूर का प्रबन्ध होना आवश्यक है। पहिनने के वास्ते तरह-तरह के रंगीन, भड़कीले वस्त्र, और, सोने-बैठने के लिए मुलायम गद्दे-बिछौने रहते है। इस प्रकार माता-पिता बालकों को सुकुमार और शौकीन बना देते हैं। वे नहीं जानते कि आरामतलबी और नज़ाकत मनुष्यत्व का ह्रास करने वाली हैं। इसी प्रकार धनी साम्राज्य के सूत्रधार भी साम्राज्य को कष्ट-सहिष्णु न रहने देकर उसे विलासिता और ऐश्वर्य में लीन कर देते हैं। वे अभिमान-पूवक संसार को बताते हैं कि हमारी अधीनता में इतने आदमी, या इतने प्रदेश हैं। शासक अपनी सभ्यता की डींग हाकते है, और असभ्यों को सभ्य बनाने का दम भरते है। अफसोस! यह धन, यह सभ्यता, यह वैभव ही उन्हें डुबाने वाला होता हैं। इतिहास में कितनी बार 'असभ्यों' ने 'सभ्यों' पर विजय पायी है!

हम ऊंची जाति के बने, हमने दूसरों को 'नीच' समझा। यही तो हमारे हृदय की संकीर्णता है, हृदय का रोग है। हमने संसार को धर्म की शिक्षा देने का बीड़ा उठाया, पर हमने अपना धर्म नहीं समझा, और, समझा भी तो उसका पालन न किया! फिर, हमारा

ह्रास या विनाश न हो तो क्या हो; और इसका उत्तरदायित्व हमारे सिवाय और किस पर है !

आशा की किरण—हमने कहा है कि साम्राज्यों के पतन का प्रमुख कारण वे स्वयं ही है। वे ऐसे मार्ग का अवलम्बन करते हैं, जिससे जल्दी या देर में उनका पतन अनिवार्य हो जाता है। यदि वे अपना रंग-ढङ्ग सुधार लें, उनका सबसे प्रबल शत्रु जाता रहेगा, उनका पतन बहुत-कुछ रुक जायगा। क्या सुधार की कुछ आशा है ? चारों ओर वातावरण बहुत खराब है। फिर भी हम नितान्त निराशावादी नहीं हैं। हम आशा की एक किरण देखते हैं, यद्यपि वह अभी बहुत बारीक है। आशा की झलक इस बात मे है कि अब 'साम्राज्य' शब्द का महत्व घट गया है, इसका आदर जाता रहा। कोई साम्राज्य यह कहना नहीं चाहता कि वह साम्राज्यवादी है, वह साम्राज्यवाद के लिए लड़ता है। प्रत्येक साम्राज्य यही कहता है कि हम दूसरों की रक्षा और स्वतत्रता के लिए लड़ते हैं। हम अपने अधीन भागों को स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार देते हैं। प्रायः उनका यह दावा सत्य नहीं होता, पर इससे उनके ऊपर एक दायित्व तो आ जाता है। सम्भव है, आगे-पीछे वे अपनी बात पूरी करने के लिए प्रेरित हों।

साम्राज्यों का हित—निदान, साम्राज्यों का भला इसी में है कि अपने क्षेत्र को सीमित रखें, दूसरों के शोषण और दमन की नीति छोड दे, और, जब उनके अधीन देश स्वाधीन होने की मॉंग

पेश करें तो टालमटोल न कर, उन भागों को सहर्ष स्वराज्य-भोगी होने दे। ऐसा होने पर किसी साम्राज्य के लिए, दूसरे से ईर्षा करने का कोई कारण न रहेगा, और सब संघर्ष निर्मूल हो जायगा। इस पर यह कहा जा सकता है कि यदि साम्राज्य अपने लोभ और तृष्णा का परित्याग कर दे, और अपने अधीन देशों को उनकी इच्छानुसार स्वाधीन करते रहा करें, तो साम्राज्य 'साम्राज्य' ही कैसे रह सकते हैं? उनका तो काया-पलट ही हो जायगा? वे तो स्वाधीन राष्ट्रों के संघ हो जायँगे।

यह ठीक है; पर इसमें हर्ज ही क्या है! इससे मानव जाति का हित ही होगा। चिरकाल से एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या विद्यमान है—साम्राज्य दूसरों को अपने अधीन करके बढते हैं, अधिकाधिक विशाल बनते हैं, उनमें ऐश्वर्य और विलासिता आती है, वे दूसरों के ईर्षा-भाजन बन जाते हैं, नैतिक गुणों से हीन हो जाते हैं, और ऐसी दशा में किसी-न-किसी प्रकार मृत्यु के शिकार हो रहते हैं। साम्राज्यों की यह दुखान्त कथा खुली पड़ी है; जो चाहे, इसे पढ़ सकता है। यदि वर्तमान साम्राज्य प्रजातंत्रात्मक स्वतत्र राष्ट्रों के संघ बनना स्वीकार कर लें, तो ये अपने भविष्य की चिन्ता से मुक्त हो सकते हैं।

साम्राज्यों से प्रश्न—प्रत्येक साम्राज्य से यह प्रश्न है कि वह क्या पसन्द करता है। क्या वह लोक-कल्याण के लिए, एवं स्वयं अपने उद्धार के हेतु, साम्राज्यवाद का चोला उतार फेंकने के लिए, वास्तव में, सचाई और ईमानदारी के साथ, स्वयं तैयार है? क्या वह

स्वधीन राज्यों का संघ बनाने में सहर्ष भाग लेना स्वीकार करता है ? क्या वह राष्ट्रों में भ्रातृ-भाव, बिरादरी या भाईचारा कायम करने के शुभ कार्य में योग देगा ? अथवा, क्या वह उस समय की प्रतीक्षा करेगा, जब कि वह इस कार्य को करने के लिए बाध्य हो जायगा, या उसमे इसका यश लेने की शक्ति ही न रहेगी ? संसार में मूर्खता के उदाहरण उपस्थित करने वाले अनेक हैं, तो दूरदर्शियों का भी अभाव नहीं है। हमें बुद्धिमान होना चाहिए। बहुतों का इतिहास हमारे सामने है, क्या हम उससे शिक्षा न लेंगे ? जब कोई कार्य करना ही है, तो क्यों न हम उसे खुशी और उमंग से शीघ्र कर डाले ! समय पर करने में खूबसूरती है; देर करने से मज़ा नहीं रहता। कुछ साहस की आवश्यकता है, त्याग की ज़रूरत है; स्वय हमारे स्वार्थ के लिए भी यह कदम उठाया जाना लाज़मी है। क्या हम विचार करेंगे ?

भारतीय ग्रन्थमाला